रमेशचन्द्र शाह : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

2.1 रमेशचन्द्र शाह का व्यक्तित्व

किसी भी लेखक के व्यक्तित्व के विकास में उसके परिवेश का, परिवार के संस्कारों का बुनियादी महत्व होता है। बाल्यकाल में मन पर पड़े संस्कार वयस्क मानव व्यक्तित्व सचेत और विकसित करने में काफी सहायक हुआ। अपनी रचना ''नदी भागती आयी'' की भूमिका में वे लिखते हैं, 'मेरे बचपन में साहित्यिक वातावरण जैसी कोई चीज़ नहीं थी, मगर परिवेश–यानी चराचर परिवेश–ऐन्द्रिय बोध को जगाने के लिए भी पर्याप्त था और जिसे भाव दीक्षा कहा जाता है, उसके लिए भी।"....1 उनकी कविता में जहाँ अलमोड़ा के प्राकृतिक परिवेश की विविध घटनाएँ विद्यमान हैं, वहीं उनके उपन्यास तथा कथा–साहित्य में भी इस प्रदेश विशेष का तथा अल्मोड़ा नगर के मानवीय भूगोल का खास संवेदनशील चित्रण उपलब्ध होता है। अल्मोड़ा यहाँ अप्रासंगिक न होगा। अल्मोड़ा की सबसे बड़ी विशेषता उसका सांस्कृतिक खुलापन है जो उसके नैसर्गिक खुलेपन के समरूप है। यह नगर कुमाऊ की विशिष्ट आंचलिक संस्कृति का गढ़ रहा है। यहाँ के प्रतिभा सम्पन्न–लेखक, संगीतज्ञ, राजनेता और यहाँ के उत्सव–पर्व अखिल भारतीय संस्कृति की व्यापकता को प्रतिबिम्बित करते रहे हैं।

हिन्दी साहित्य को नवीन दृष्टि एवं दिशा प्रदान कर युगान्तर प्रस्तुत करने वाले डॉ. रमेशचन्द्र शाह का जन्म वैशाख त्रयोदशी सन् 1937 को जौहरी बाजार अल्मोड़ा (उत्तराखण्ड) के एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार में हुआ। उनके पिता का नाम श्री ईश्वरी लाल और माता का नाम श्रीमती हरिप्रिया देवी था।

श्री शाह के व्यक्तित्व निर्माण के पीछे जहाँ हम पिता का प्रच्छन्न किंतु गहरा संस्कार देखते हैं वहीं माता की संवेदना भी एक नदी की भाँति उनके भीतर प्रवाहित रहती है। साहित्य की ओर रूझान लेखक का बचपन से ही था उन्हीं के शब्दों में– "कविता करने का चस्का बचपन से ही था, साहित्यिक वातावरण जैसी कोई चीज़ अपने घर में या

आस–पास भी कहीं सुलभ नहीं रहीं"।....2 उनकी कविता में जहाँ अल्मोड़ा के प्राकृतिक परिवेश की विविध छटाऐं विद्यमान हैं वहीं उनके उपन्यास तथा कथा साहित्य में भी अल्मोड़ा नगर के मानवीय भूगोल का खास संवेदनशील चित्रण उपलब्ध होता है।

अल्मोडा नगर

अल्मोडा नगर कूर्मांचल की राजधानी के रूप में प्रसिद्ध रहा है। यह जिस पहाड़ी पर बसा हुआ है, उसके एक ओर कोसी तथा दूसरी ओर सुआल नदी बहती है। दूर से पूरा नगर एक घोड़े की पीठ पर बसे होने का आभास देता है, जिसका मुंह नारायण तेवाड़ी देवाल तथा हीराडुंगरी हो और पूंछ ब्राइट एंड कॉर्नर तथा कर्बला चुंगी की ओर। मध्यकाल में कुमाऊ के चंद राजाओं द्वारा बसाया यह अनूठा नगर चारों ओर पहाडियों से घिरा हैः उत्तर में कासार देवी, पूर्व में बानड़ी देवी, पश्चिम में स्याही देवी तथा दक्षिण में मुक्तेश्वर के पर्वतश्रृंग नगर को एक सुविस्तुत दृश्यावली और अनुपम खुला सौन्दर्य प्रदान करते हैं। सांस्कृतिक रूप से भी यह नगर बड़ा समृद्ध रहा है। अतीत अनुपम खुले अंचलों से आकर बड़े–बड़े विद्वान यहाँ गुणग्राही नरेशों का कृतज्ञ संरक्षण पाते रहे और वर्तमान में भी देश और विदेश के अनेक कलावन्त, साधक और आध्यात्मिक सिद्ध पुरूषों का सुदीर्घ सम्पर्क इस नगर ने पाया है। पर्वतीय प्रदेश का कदाचित ही कोई और नगर इस तरह की विविध प्रतिभाओं को अपनी ओर आकर्षित कर पाया हो। स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गांधी सरीखे महापुरूष ही नहीं, ब्रस्टर और रूडोल्फ सरीखे प्रतिभाशाली चित्रकार एवं पंडित उदयशंकर और रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे कलाकार भी यहाँ निवास कर कला साधना कर चुके हैं।

आलोच्य लेखक रमेशचन्द्र शाह का कलाकार मन इस सांस्कृतिक परिवेश से किस प्रकार संस्कारित है, इसकी स्वीकारोक्ति उनके आलोच्य साहित्य में यत्र–तत्र प्रतिबिम्बित होती है। यहाँ की रामलीला के विषय में आपने लिखा है कि यह– "भारतीय मनुष्य की भावात्मक दीक्षा का सबसे अमोघ साधना रही है।"....3 इसमें खड़ी बोली के संवाद, उत्तर प्रदेश की लावनी, गजल तथा भारतीय क्लासिकल संगीत की प्रमुख राग–रागिनियाँ –

सभी का अद्‌भुत समावेश हो गया है। यही विशेषता यहाँ की होली में भी विद्यमान है। एक की रीढ़ महाकवि तुलसी का अवधी महाकाव्य है तो दूसरे पर ब्रजमाधुरी छाई हुई है। स्थानीय मेलों–त्यौहारों का वैविध्य चमत्कृत करने वाला है। ये सभी पूर्व भारतीय जीवन–पद्धति और उत्सव प्रियता से ओतप्रोत भारतीय जीवन–दृष्टि के अनुरूप समूचे ऋतुचक्र को प्रतिबिम्बित करने वाले हैं। यह नगर आधुनिक शिक्षा की दौड़ में भी अग्रणी रहा है।

शिक्षा दीक्षा

श्रीशाह की प्रारम्भिक शिक्षा पारिवारिक परिवेश में हुई उसके बाद नियमित शिक्षा राजकीय इण्टर कॉलेज अल्मोड़ा से हुई। सन् 1952 में इसी कालेज से हाईस्कूल, 1954 में इण्टरमीडिएट की परीक्षा उत्तीर्ण की, इस परीक्षा में जिला स्तर पर सर्वोच्च स्थान पाया। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से उन्होंने बी.एस.सी. की परीक्षा उत्तीर्ण की। वे एम.एस.सी. भौतिकशास्त्र में करना चाहते थे लेकिन आर्थिक स्थिति व आँखों की समस्या के कारण ऐसा कर ना सके। मुक्तेश्वर के स्कूल में अध्यापन कार्य करते हुए आगरा विश्वविद्यालय से व्यक्तिगत परीक्षार्थी के रूप में एम.ए. अंग्रेजी साहित्य में किया। मध्यप्रदेश उच्च शिक्षा सेवा में शामिल होने के बाद भोपाल विश्वविद्यालय से, "येट्स एण्ड इलिट–पर्सपेक्टिब्ज ऑन इण्डिया" विषय पर शोध कार्य कर पी.एच.डी. की डिग्री प्राप्त की।

सन् 1964 में शाह गुजराती तथा हिन्दी की एक सुसंस्कृत कवयित्री "ज्योत्सना मिलन" के साथ विवाह सूत्र में बँधे। ज्योत्सना जी ने सेन्ट जेवियर्स कालेज, बम्बई से गुजराती साहित्य में एम.ए किया है और इसके बाद रीवा विश्वविद्यालय से एम.ए. अंग्रेजी भी। दोनों ही साहित्य के प्रति समर्पित हैं। यह उल्लेख भी आवश्यक है कि ज्योत्सना जी 'धर्मयुग', 'भारती', 'नवनीत' आदि पत्रिकाओं के सम्पादन से जुड़े हिन्दी के वरिष्ठ कवि–कथाकार श्रीयुत वीरेन्द्र कुमार जैन की सुपुत्री हैं, तथा ज्योत्सना जी के हिन्दी में अब तक तीन उपन्यास, तीन कथा संग्रह तथा दो कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। मुक्तिबोध

फैलोशिप के अन्तर्गत लिखा गया उनका उपन्यास 'अ–अस्तु का' इस बीच काफी चर्चित रहा है।

डॉ.रमेश चन्द्र शाह के परिवार का वातावरण अनुशासनपूर्ण था। साहित्यिक वातावरण न होने पर भी डॉ.शाह को बचपन से ही साहित्य से अत्यधिक लगाव रहा है। जब वे छः सात वर्ष के थे, तभी से उन्हें लिखने का बड़ा शौक था और वे कविता भी किया करते थे। उन्होंने स्वयं कहा है– कविता करने का चस्का बचपन से ही पड़ चुका था। "साहित्यिक वातावरण जैसी तो कोई चीज अपने घर में या आसपास भी कहीं सुलभ नहीं रही मगर जिस प्राकृतिक वातावरण और सांस्कृतिक पर्यावरण में मैं पला–पुसा वह न केवल ऐन्द्रिक संवेदनाओं को जगाने के लिए पर्याप्त था बल्कि जिसे मैं भाव दीक्षा या 'इमोशनल एजुकेशन' कहता हूँ उसके लिए भी।"....4

डॉ.शाह के साहित्य सृजन का प्रारम्भ कवि रूप में हुआ। काव्यकाल में उनकी कविताएँ अल्मोड़ा की साहित्यिक पत्रिका 'शक्ति' में प्रकाशित होती थीं। अनेक व्यक्ति मानते हैं कि अच्छे लेखक अध्यापक नहीं बन सकते तथा अच्छे अध्यापक लेखक नहीं हो सकते। क्या सचमुच अध्यापक कर्म और लेखन कार्य आपस में जुड़े नहीं हैं? शाह का कथन है कि उनके एक कवि मित्र का उनके पास पत्र आया था, जिसमें उन्होंने बड़े दर्द के साथ लिखा था कि 'यह पेशा कलाकार को अनुभव से दूर ले जाता है और जिस डाल पर वह बैठा है और उसी को काटने को मजबूर करता है।'....5 लेकिन शाह ने इस उक्ति को असत्य सिद्ध किया है। वे लेखकीय और अद्यापकीय दोनों प्रकार के दायित्वों को समान रूप से निभाते रहे हैं। इस सम्बन्ध में उनसे चर्चा करने पर उन्होंने स्पष्ट किया कि बचपन से ही उनका आत्म बिम्ब कवि को होते हुए भी सामाजिक पद की दृष्टि से वे अपने आस–पास वकील, व्यापारी, राजनेता, कलेक्टर, बाबू लोग आदि जिन तरह–तरह के पेशे के लोगों को देखते थे, उनसे सबसे अधिक आकर्षक तथा ऊँचा ओहदा उन्हें अध्यापक का ही लगता था।

वे मानते हैं शुरू से कि अपने जीवन में शुरू से ही, अपने साहित्य जीवन अध्यापकों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। कविता के बाद जो उन्हें दिलचस्प विधा लगती थी, वह था

ललित निबंध, और जिनके भी निबंध उनको पसंद आते थे वे सब के सब अध्यापक रहे थे। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, बाबू गुलाब राय और अध्यापक पूर्णसिंह, यहाँ तक कि बहुत बाद में अंग्रेजी साहित्य के प्राध्यापक और हिन्दी के प्रसिद्ध कवि आलोचक श्री विजयदेव नारायण साही की भी पहली पहचान शाह को एक आत्म–निबंधकार के रूप में ही हुई थी। इस प्रकार साहित्य रचने और साहित्य पढ़ने के बीच कोई विरोध या असंगति है, इसका पता उन्हें कम से कम युवावस्था तक तो नहीं लग पाया था।

चार्लस लेम्ब जैसे गद्यकार या डिकेन्स जैसे उपन्यासकार को पच्चीस सालों से पढ़ते– पढ़ाते भी शाह को ऊब नहीं होती। वे आज भी उनमें वैसा ही उन्मेष जगाते हैं जैसा प्रथम परिचय के दिनों में जगाते थे। वे कहते हैः 'इसका मतलब आखिरी यही न हुआ कि पढ़ाने की क्रिया से पढ़ने की स्वतन्त्रता कुंठित हो ही, यह बिल्कुल जरूरी नहीं है। मन तो यही करता है कि कविता का अपने पाठक के साथ कुछ वैसा ही सदाबहार रिश्ता होना चाहिए जैसे– प्रसाद जी ने मनु और श्रद्धा के मिलन–प्रसंग में दिखाया हैः नित्य परिचित हो रहे, फिर भी रहा कुछ शेष'.....। मगर कविता पढ़ने का साहित्य पढ़ाने का जो एक धन्धा चल पड़ा है, क्या उसमें ऐसी गुंजाइश रहने भी दी जाती है? वहाँ तो हम देखते हैं कि कविता के अर्थ को पीटकर लीक पर घसीटने की प्रवृत्ति का ही बालबाला है। मगर धन्धे की बात को छोड़ भी दें, तो क्या यह किसी कृति की अक्षय ताजगी का ही प्रमाण नहीं है, कि उस पर लगातार नई–नई व्याख्याएँ, नए–नए भाष्य होते रहे और फिर भी वह कृति शेक्सपीयर की क्लियोपैट्रा की तरह सदाबहार ही बनी रही?'....6

शाह को किसी कृति का रसास्वादन कर लेने पर से तृप्ति नहीं मिलती। अपने 'पाए हुए' को दूसरों के साथ बाँटने की प्रबल इच्छा, माँग उनके भीतर से उठती है। अपने सृजन विषयक चिन्तन को आगे बढ़ाते हुए वे कहते हैं कि 'सच्ची बात तो यह है कि साहित्य का अध्यापन आज जितनी गम्भीरता के साथ किया जा रहा है, साहित्य का साक्ष्य मानव नियति से जुड़े प्रश्नों के समाधान के लिए आज जितना अनिवार्य समझा जा रहा है, उतना शायद ही पहले कभी समझा गया हो। यह भी कि आज साहित्य का अध्येता और

आलोचक ज्ञान के अन्य अनुशासनों की अधुनातन स्थिति के प्रति जितना सजग और अभिज्ञ दिखता है, उतना पहले नहीं था। एक तरह से कहा जाय तो वह साहित्य का दार्शनिक हुआ जा रहा है– बिना साहित्य की स्वायत्त गरिमा को कहीं से भी ठेस पहुँचाए।'....7

आज बहुत सारे प्रसिद्ध कवि और उपन्यासकार सीधे–सीधे विश्वविद्यालयों से जुड़े हैं– 'विजिटिंग प्रोफेसर' और 'राइटर इन–रेजिडेंट' के रूप में। पिछले दशकों में भला कौन यह कल्पना कर सकता था कि 'क्रिएटिव राइटिंग' भी बकायदा पाठ्यक्रम में स्थान पा सकता है। शायद इससे भी दूरगामी महत्व की बात यह हुई कि..... ''साहित्य आलोचना आज ज्ञान के एक विशिष्ट अनुशासन के रूप में खासी प्रतिष्टा अर्जित कर चुकी है और उसे इस स्थिति तक पहुँचाने का श्रेय उन्हीं को है, जो विश्वविद्यालयों के भीतर के लोग हैं। शाह का कहना है कि इतनी अधिक संख्या में इतनी प्रबल मेधा शक्ति से सम्पन्न लोग आलोचना के क्षेत्र में पहले कभी सक्रिय नहीं थे।''....8 निश्चय ही इस बदली हुई परिस्थिति में अब 'एकेडेमिक' शब्द का प्रयोग निन्दा या अवहेलना के सूचक के तौर पर करना आसान नहीं रह गया है।

रमेश चन्द्र शाह के मतानुसार– ''साहित्यिक हमारी भाविक और सांवेदनिक शिक्षा का सर्वोत्तम उपाय है।''....9 साहित्य के सत्य को अज्ञेय ने 'रागदीप' सच कहा था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि 'साहित्य से मनुष्य की रक्षा होती है।' डी.एच. लारेन्स ने भी 'इमोशनली एजुकेटेड' व्यक्ति की बात उठाई है और इस तथ्य को रेखांकित किया है कि शिक्षित बुद्धि के लोग तो बहुत सारे मिलेंगे, मगर भाव संवेद की दृष्टि से प्रशिक्षित–परिपक्व लोग बहुत कम देखने में आते हैं।

शाह का कहना है कि "साहित्य हमारी निजी सम्पत्ति नहीं हैं, वह हमारे जातीय मन की सबसे प्रामाणिक और पुख्ता अभिव्यक्ति है। विश्वविद्यालयों के होने की एक बहुत बड़ी सार्थकता यही है कि वे इस जातीय मस्तिष्क की सांस्कृतिक–धरोहर को न केवल सुरक्षित रखेंगे, बल्कि नये संदर्भों में उनकी प्राणवत्ता को अक्षुण्ण और सुलभ भी बनाये रखने का

जतन करेंगे।"....10 यह तो समझ में आता है कि हमारे छात्रों–अध्यापकों को साहित्यकारों के संपर्क में आने का– राइटर्स वर्कशाप जैसे अनुभवों से भी गुजरने का मौका मिले, किन्तु जो साहित्य अभी अपनी जगह तक नहीं बना पाया है, लोक मन में तो क्या, गिनती के प्रबुद्धजनों के भीतर भी अभी तक बिता नहीं है, उसे पढ़ाए जाने का क्या औचित्य है? क्या वह पढ़ाई भी होगी–सही अर्थों में? शाह ने यह प्रश्न उठाया है कि "क्या हमारे शिक्षा संस्थानों के लिए अमेरीकी चंचलचित्ता अनुकरणीय आदर्श हो सकती है?"....11 वे मानते हैं कि 'विश्वविद्यालयों में एक नैसेसरी कन्जरवेटिज्म' और नैसेसरी रेटिस्टेंस' होना ही चाहिए, अन्यथा एक तरह की ढुलमुल अराजकता सर्वत्र फैल जायेगी। जब तक विद्वतजनों के बीच ठेठ साहित्यिक हलकों में किसी लेखक के महत्व की पहचान और प्रतिष्ठा नहीं हो जाती, "तब तक उसे पाठ्यक्रम में शामिल करना या उस पर शोध वगैरह करवाना समझदार स्वीकार का नहीं रीढ़हीन अवसरवादिता का ही प्रमाण माना जाएगा।"....12

अध्यापक के रूप में उन्हें कई बार ऐसी प्रेरणा हुई कि कविता पढ़ाते हुए उसका हिन्दी अनुवाद कर दिया जाए–पैराफेज नहीं, बल्कि सीधा कायाकल्प या कायान्तरण। कभी–कभी उन्हें एकाध कवि–स्वभाव वाले छात्रों का सहयोग भी प्राप्त हुआ। इस तरह उन्होंने पाया कि वह विदेशी विजातीय काव्य हमारे एकदम निकट आ जाता है। यह प्रयोग उन्होंने वट्रस्वर्थ और कीट्रस के साथ ही नहीं, एलियट, स्पेंडर और ऑडेन सरीखे आधुनिक कवियों के साथ भी किया और इसका वांछित परिणाम भी निकला। शाह इससे आगे लिखते हैं कि.... एक बार तो चार्ल्स लैम्ब के दि कान्वेलेसेट नामक खासे लम्बे निबन्ध का भी हिन्दी अवतार इसी झोंके में बड़े मजे–मजे में हो गया। कभी–कभी स्मृत्ति में कौंधने वाले समानान्तर संदर्भ भी पढ़ाते जा रहे पाठ को अलौकिक करने में सहायक हो जाते हैं। मसलन, टैम्पेस्ट में, जब प्रास्पेरो अपना जादू दिखाने के बाद उसे समेट लाता है तो अपने हतप्रभ जमाता से वह जो कुछ कहता है, वह अद्वैत वेदान्त का अच्छा–खासा पाठ सरीता लगता है। प्रॉस्पेरो की वे प्रसिद्ध पंक्तियाँ 'वी आर सच स्टफ ऐज ड्रीम्स आर मेड ऑन–एण्ड अवर लिटिल लाइफ–इज राउण्डेड विद ए स्लीप'..... पढ़ाते हुए, एक बार उन्हें याद हुआ है कि उनके दिभाग में तुरन्त गीता का वह श्लोक प्रतिध्वनित हो उठा थाः

'अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्त मध्यानि भारत

अव्यक्तनिधनान्येव, तत्र का परिदेवना।'

अर्थात् हम प्राणियों का केवल यह वर्तमान ही प्रकाशित है, इसके पहले हम क्या थे, कहाँ थे और इसके बाद कहाँ जायेंगे, क्या होंगे यह सब अंधकार में डूबा है.....। 'कामायनी' की वे पंक्तियाँ भी तुरन्त इसी प्रसंगवश उनकी स्मृति में कोंध गई थी.....।

जीवन तेरा क्षुद्रा अंश है, व्यक्त नील घनमाला में

सौदामिनी संधी–सा सुन्दर क्षणभर रहा उजाला में।

अन्त में शाह हम सभी के अनुभव के सच को रेखांकित करते हुए कहते हैं कि 'साहित्य की पढ़ाई के बीच तो साहित्य कक्षा में गुरूमुख से पड़ जाता है, किन्तु असली पढ़ाई तो उसके बाद ही शुरू होती है। कुछ कृतियों को हम एक बार में आत्मसात कर लेते हैं और दुबारा पढ़ाई तो उसके बाद ही शुरू होती है। कुछ कृतियों को हम एक बार में आत्मसात कर लेते हैं और दुबारा पढ़ने की नौबत नहीं आती या जरूरत ही महसूस नहीं होती, किन्तु कुछ कृतियाँ हमारे साथ–साथ बड़ी होती जाती हैं।'....13 बचपन में पढ़े रामायण–महाभारत के साथ अपने सम्बन्ध को याद करते हुए वे कहते हैं– 'विलिंग सस्पेंशन आव डिस्बिलीफ' की सहमति उठाने की भी हमें कोई जरूरत नहीं होती क्योंकि उस समय हम 'कुंभकर्ण' का सिर बादलों को छू रहा था.....' जैसी बातों पर भी सहज विश्वास कर लेते हैं, हमारी सामान्य कल्पना ही उस समय कवि–कल्पना के कद की हुआ करती है। किन्तु उसके बाद अपनी उम्र के हर दशक में हम अपने को नये सिरे से, नयी समझ–बूझ के साथ नई–नई खोजों के साथ समृद्ध करते हैं।' रामायण–महाभारत तो खैर महाकाव्य हैं, अनेक ऐसी साहित्यिक कृतियाँ हैं, जिनमें हम हर बार अपने लिये नयी अर्थवत्ता खोजते और पाते हैं। आप आज कामायनी पढ़कर जितना कुछ ग्रहण कर रहे हैं, दस साल बाद आपको उसमें नई अर्थ–छवियाँ मिलेंगी। जैसे– जैसे आपका जीवनानुभव और अध्यनानुभव अधिकाधिक विस्तृत और गहनतर होता जाएगा, वैसे–वैसे साहित्य की अपनी समझ भी गुणात्मक ढंग से बदलती जायेगी। शाह के शब्दों में– "साहित्य में जीवन

का सघन संवेदन व्यक्त होता है। जीवन जीते हुए हमें अपने अनुभव पर एकाग्र होने का अवसर नहीं मिलता। हम अपने जीवन भोग के तत्काल साक्षी नहीं बन सकते। साहित्य में आप हमारे भीतर बैठे इसी भोक्ता और साक्षी के बीच दौडने वाली विद्युत्तरंग की ऊष्मा और प्रकाश पाते हैं। इसी से एक प्राणवान कृति में बैठते हुए आप स्वंय को अपनी सारी सम्भव भावनात्मक ऊर्जा और बुद्धि ऊर्जा के साथ स्पंदनशील अनुभव करते हैं। जो आप हैं, हो सकते हैं, उसी के सघनतम अनुभव–रूप में। यही साहित्य को पढ़ने और पढ़ाने की सार्थकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीविका और स्वधर्म के रिश्ते को लेकर शाह की अपनी मौलिक–अनुभूत व्याख्या है, जो साहित्य के लेखकों व पाठकों–सहृदयों के लिए भी प्रबल रूप से प्रासंगिक है।

जीविका एवं परिवार

शाह की जीविका अल्मोड़ा के निकट बाड़ेछीना के एक विद्यालय में अध्यापन से प्रारम्भ हुई। फिर आपने जैंती (सालम) तथा मुक्तेश्वर में भी अध्यापन कार्य किया। एम.ए करने के बाद शाह को प्रथम नियुक्ति डिग्री कालेज गंजडुंडवारा (एटा) में मिली। इसके एक वर्ष बाद अर्थात् सन् 1961 में मध्यप्रदेश उच्च शिक्षा विभाग के अन्तर्गत भोपाल के शासकीय हमीदिया कॉलेज में नियुक्ति हुई। वहाँ से पदोन्नत होकर सन् 1964 से 1971 तक गवर्नमेंट डिग्री कालेज सीधी में रहे। सन् 1971 से 1973 तक पन्ना के छत्रसाल महाविद्यालय में अध्यापन करने के पश्चात् वर्ष 1973 से अब तक शासकीय हमीदिया महाविद्यालय, भोपाल (म.प्र) में ही अध्यापन कार्य करते रहे। वर्तमान में शाह शासकीय हमीदिया कॉलेज में अंग्रेजी विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष की हैसियत से 1977 में सेवानिवृत्त होकर भोपाल में ही निरंतर रचनाशील हैं।

अध्यापन को अपनी जीविका का आधार बनाने के साथ शाह ने साहित्य रचना को स्वधर्म के रूप में अपनाया है। बचपन से ही साहित्य के प्रति उनका गहरा लगाव रहा है। साहित्य सृजन के स्वधर्म के साथ अध्यापन के व्यवसाय को वे एक सार्थक कर्म मानते हैं।

उनके कथानुसार श्रेष्ठ अध्यापक बनने के अलावा उनमें और कोई सांसारिक महत्वाकांक्षा उस तरह नहीं थी। अंग्रेजी, हिन्दी, गुजराती, कुमाउंनी आदि भाषाओं का ज्ञान होने के कारण उन्हें साहित्य को समझने तथा उसे एक नए नजरिये से पेश करने में बड़ी मदद मिली। दूसरी ओर अध्यापन का व्यवसाय होने के कारण साहित्य को सांस्कृतिक परम्परा तथा समाज से जोड़ने की समग चिन्ता बनी रही।

एक अध्यापक के रूप में शाह की खास दिलचस्पी आधुनिक साहित्य में रही हैं। उनका कहना है कि "इस आधुनिक साहित्य का स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि वह हमें परम्परा के प्रति स्वयं परम्परागत साहित्य की अपेक्षा अधिक उन्मुख करता है। जिस प्रकार प्राणों के संकट में फंसा हुआ आदमी जीवन के आस्वाद और गुणवत्ता को एकदम नई तरह से पहचानता और अनुभव करता है, उसी तरह आधुनिक साहित्य भी संकट में फँसी आज की मानवता की पुकार होने के फलस्वरूप जीवनदायी मूल्यों की खोज का, और स्वयं मूल्यों के भी मूल्य की थाह पाने को जूझता हुआ साहित्य है।"....14

2.2 सृजन–रेखा

सृजन रेखा से आशय साहित्य की रचना–प्रक्रिया तथा रचनाकार के विकास–क्रम से है। शाह के साहित्य सृजन की शुरूआत एक कवि के रूप में हुई। वहीं उनका वास्तविक आत्म–बिम्ब भी था। उन्हें बचपन से ही कविता के जरिए अपने भावों को अभिव्यक्त करने का अभ्यास हो गया था। यदि 'गोबरगणेश' के आत्मकथात्मक आख्यान का सहारा लिया जाय तो उनकी पहली कविता सम्भवत; सन् 1945–46 के आसपास 'विधवा' शीर्षक से लिखी गई होगी और उसी के आसपास 'माता तू है नदी, पिता तू महाकाल की छाया' जैसी पंक्तियाँ भी। उनके लड़कपन के दिनों की कविताएँ अल्मोड़ा के साप्ताहिक अखबार 'शक्ति' में छपा करती थी। इसमें छपने वाली उनकी सबसे पहली कविता सन् 1951 में महात्मा गाँधी के बलिदान को लेकर लिखी गई। उसके बाद सन् 1961 में 'धर्मयुग' जैसी साहित्यिक पत्रिका में 'वत्सल दृष्टि' नामक शीर्षक से उनकी वयस्क कविता–यात्रा आरम्भ हुई, ऐसा कहा जा सकता है।

बाल्यावस्था में ही साहित्य–रचना की प्रवृत्ति जागृत हो जाने के बावजूद वयस्क होने के उपरान्त अनेक लेखकों में लिखने–छपने की प्रवृत्ति में जो तेजी दिख पड़ती है, वह शाह में नहीं दिखाई देती। उन्हीं के आत्मपरख निबन्धों के हवाले से प्रकट होता है कि रचनात्मक आत्मविश्वास उनमें अपेक्षाकृत विल्म्ब से आया। उनकी सृजन – रेखा बचपन में उभर चुकी थी, किन्तु किशोरावस्था और प्रारम्भिक युवाकाल में कुछ दबी हुई और धूमिल जान पड़ती है। इसके कई कारण हो सकते हैं, जिनमें उनका विज्ञान के प्रति उन्मुख हो जाना तथा साहित्यक प्रोत्साहन के वातावरण का अभाव है। इसके अलावा मनोवैज्ञानिक असुरक्षा–ग्रंथि भी इस विलम्ब के पीछे सक्रिय रही हो सकती है। किन्तु दूसरी दृष्टि से देखे तो प्रतीत होगा कि इस विलम्बित आरम्भ के कारण जहाँ एक ओर उन्हें अपने समकालीनों की तुलना में मान्यता मिलने में देर हुई, वहीं इससे लाभ भी हुआ। एक बार पैर जम जाने के बाद वे निर्बाध गति से आगे बढ़ते गये और अभी तक उनकी सुदीर्घ रचना–यात्रा उसी विपुलता और वैविध्य के साथ सतत् गतिमान् है जैसी कि वह सत्तर के दशक में थी। उनका आरम्भ विलम्बित और विनम्र था, एकदम विस्फोटक नहीं। किन्तु बाद के उनके अकुंठ और अविराम विकास–क्रम ने यह सिद्ध कर दिया कि अंततः अपेक्षाकृत देर से साहित्य में प्रवेश करना उनके हित में अच्छा ही हुआ। वे एक लम्बी सांस सहज ही अपनी रचनाशीलता में साध सके और उसमें अभी तक भी शिथिलता नहीं आ पाई है। इस बारे में उनसे बात करने पर वे कहते हैं, असली इम्तहान तो अब आगे है। अभी तक तो जैसे रियाज ही करता रहा हूँ, लगता ही नहीं कि जो लिखना था, लिख चुका हूँ। तो अभी कुछ और है, जो लिखा नहीं गया, ...। यह अतृप्ति भाव ही किसी भी सृजनकर्ता को सतत् गतिमान् बनाए रखता है। रचना के क्षेत्र में सन्तुष्टि प्रगति में बाधक होती है, इसलिए शाह का साहित्यिक भविष्य अभी भी संभावनापूर्ण है।

इस विकास–क्रम का विस्तृत परिचय आगे के अध्यायों में उनकी लेखनी की विभिन्न विधाओं में सक्रिय उपलब्धियों का क्रमिक विवेचन करते हुए मिलेगा। यहाँ इतना संकेत पर्याप्त होगा कि रमेश चन्द्र शाह साहित्य को सर्जना को आत्मान्वेषण और आत्मदान की अनिवार्य प्रक्रिया से प्रेरित मानते हैं। यह प्रक्रिया अन्तर्मुखी भी है, बहिर्मुखी भी। उनमें

जहाँ एक आत्म–शिक्षित संवेदनशील व्यक्ति–मन और अन्तःकरण की व्याकुल खोज निहित है, वहीं समग्र परिवेश और सांस्कृतिक परम्परा के निरन्तर अवगाहन की तड़प भी उनके बहुविध कृतित्व में मुखरित हुई है। उसी अन्तर्गामी यात्रा का साक्ष्य उनके विपुल और कहानियाँ यदि इस सृजनशील व्यक्तित्व के एक आयाम को अभिव्यक्ति देते हैं, तो काव्य दूसरे आयाम को, निबन्ध तीसरे आयाम को तथा आलोचना एवं चिन्तात्मक कृतित्व एक चौथे आयाम को, जो पहले तीन आयाम जितना ही महत्वपूर्ण ठहरता है। कहना न होगा कि सृजन और चिन्तन का यह निरन्तर सहचरण तथा सृजन का यह बहुआयामी स्वरूप लेखक के अपने स्वभाव का ही तकाजा है, उसकी अनिवार्य आन्तरिक जरूरत का ही प्रतिफलन हैः जीवन–मर्म की एक जीवन –व्यापी शोध का ही तथा समकालीन जीवन और संस्कृति की समस्याओं से निरन्तर टकराते रहने की चुनौती का स्वीकार और प्रत्युत्तर।

लड़कपन में शाह को लगा था कि कहानी लिखना कविता लिखने की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन है। पद्य रचने की आनन्दमयी उत्तेजना उन पर बहुत जल्दी हावी हो गयी थी। जब वे तीसरी कक्षा मे पढ़ते थे, तभी से उनके भीतर का सर्जक क्रियाशील होने लगा था। मगर उन्होंने अपनी पहली कहानी तब लिखी जब वे नवीं में पढ़ते थे। कहानी का शीर्षक था 'तबलची'। उनके बालमन पर कहानी की जो छाप सबसे पहली और शायद सबसे गहरी पड़ी, वह रामायण, महाभारत, पुराणों और हितोपदेश की थी।

जिसे साहित्यिक वातावरण कहा जाता है उसका तो उनके तात्कालिक परिवेश में कोई प्रश्न ही नहीं था, हाँ उनके छोटे से शहर के रघुनाथ मन्दिर के छोटे से पुस्तकालय की बदौलत उन्हें ये धार्मिक पुस्तकें पढ़ने को मिल जाया करती थीं। उनके लिए तो वही कथारस ही था, औरों के लिए भले कुछ भी रहा हो। आखिर 'हितोपदेश' भी तो उन्हें उसी स्त्रोत से मिला था। एक हिन्दू घर में पले हुए बालक के लिए 'धार्मिक' और 'धर्मनिरपेक्ष' का अन्तर शायद बहुत बाद तक स्पष्ट नहीं हो पाता। निश्चय ही इसके कुछ नुकसान भी होंगे, मगर फायदे भी होंगे ही।

पुड़िया बनाने के लिए उनकी दूकान में लोग रद्दी बेच जाते थे। एक दिन उन्होंने अपने पिता को रद्दी में दिलचस्पी लेते देखा। शायद पहली बार कोई पढ़ने लायक रोचक किताब उनके पिता के हाथ लगी थी, जो उन्होंने छांट कर अलग रख दी थी। 'किंज्योति' नाम से डॉन क्विकजोट नामक विश्वविख्यात उपन्यास का वह संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद था। धर्म निरपेक्ष अर्थात् विशुद्ध साहित्य से वह उनकी पहली मुलाकात थी। इस तरह देशी–विदेशी का फर्क भी मिटा देने वाला कथारस उनके भीतर प्रविष्ट हुआ।

अपने बचपन के स्मरणों को दोहराते हुए रमेश चन्द्र शाह बतलाते हैः ''मुझे याद है कि ताँल्सताँय का 'रेजरेक्शन' नामक उपन्यास मुझे इसी तरह अपने हिन्दी 'पुनर्जन्म' में हाथ लग गया था, प्रेमचन्द का रंगभूमि भी।''....15 कहने का आशय यही कि 'महान् कथा साहित्य इसी तरह रद्दी के भाव और भेष में ही उनसे मिला–बिना यह जताए कि वह महान साहित्य है।'

घर में या पास–पडौसी में भी दूर–दूर तक कोई उन्हें बताने वाला नहीं था कि उन्हें अनजाने में ही इस तरह महान् साहित्य में दीक्षित किया जा रहा है और वह भी दूकान की रद्दी की बदौलत। उन्होंने अपने छठी कक्षा तक पढेन हुए पिता की रंगभूमि पढ़ते हुए रोमांचित और भावविह्बल दशा देखी, उस दृश्य की भी उनके अन्तःकरण पर गहरी छाप पड़ा। साहित्य की शक्ति का उनके लिए वह पहला प्रत्यक्ष पाठ था।

बहरहाल, हिन्दी कहानी और हिन्दी गद्य के साथ सचमुच लगाव का रिश्ता बनाते–बनाते उन्हें पांचेक बरस तो लग ही गये होंगे। नवीं तक पहुँचते–पहुँचते न केवल 'राजा भोज का सपना' और 'एक दुराशा' जैसी रचनाओं की बदौलत हिन्दी गद्य की नवजात स्फूर्ति और जिन्दादिली की अमिट छाप उनके मन में पड़ चुकी थी, बल्कि 'उसने कहा था', ताई, दो बैलों की कथा, और हार की जीत जैसी कहानियों की बदौलत उस कथारस की भी चस्का उनमें पड़ चुका था, जो उनके बालपन में एक और तो उनके आसपास की साक्षात् जीवन–लीला को और भी सजीव रंगों में उभारता जान पड़ता था

और दूसरी ओर कहीं भीतर पुराणों और हितोपदेश वाली दुनिया से भी जुड़ता प्रतीत होता था।

साधना के सोपान

जीवन लीला को और कहानी–उपन्यास में ढले उसके गाढ़े रस और आसव को अपने भीतर अनुभव करना एक बात है और अनुभव को कहानी के रूप में रच पाना बिल्कुल दूसरी बात है। बचपन ही संवेदना एवं बचपन की कल्पनाशक्ति कुछ और ही हुआ करती है। बड़े होने पर उस तरह का अनुभव विरला हो जाता है। पता नहीं किस चमत्कार से केवल महान् कथाकारों की रचना ही वैसा सघन और संश्लिष्ट अनुभव हमें फिर से लौटा पाती है। इसका यही कारण समझ में आता है कि कलाकारों में ही उस बचपन की जादूई–चमत्कारी आँख को बचा रखने की सामर्थ्य होती है और उसे शब्दों में ज्यों का त्यों प्रत्यक्ष कर देने की सिद्धि भी।

बच्चे का अनुभव अपनी अवाक तन्मयता में कलाकार जैसा हो सकता है, परन्तु 'भाषिक' अनुभव और शब्द–सामर्थ्य के बीच का यह अन्तराल बहुत धीरे–धीरे ही भर पाता है। शाह ने नवीं–दसवीं कक्षा में पढ़ते हुए अपने आस–पास के जीवन को जिन कहानियों में ढालने की कोशिश की थी, उनमें से सिर्फ दो कहानियों का उल्लेख उन्होंने किया है। इनमें से एक घटना–प्रधान हुई, तो दूसरी चरित्र प्रधान। उस घटना प्रधान कहानी का नाम था दृ मंहगू मेहतर। दूसरी कहानी चरित्र–प्रधान थी और मुहल्ले के ही एक कैरेक्टर को लेकर लिखी गयी थी। इस स्कूली वर्गीकरण को ही सार्थक करते हुए उन्हें ऐसा लगा मानो एक कहानी तो सचमुच घटना भर बनकर रह गयी और दूसरी महज कैरेक्टर में जड़ीभूत हो के रह गयी थी।

कहानी लिखने की प्रेरणा उन्हें अपने आसपास के वातावरण से ही मिली थी। उन्हीं के शब्दों मेः 'अपने आस–पास की जीवन–लीला से, उसमें उभरने वाले वास्तविक मानव चरित्रों के प्रति उपजने वाले सच्चे कौतूहल से ही मिली थी। वे लिखते हैं कि यह जो मनुष्य नामक प्राणी है, करूण और हास्यास्पद की सीमा छूने वाला, असीम धीरज, असीम

सहनशक्ति और उदारता का परिचय दे सकने वाला, अन्तहीन मूर्खता और बुद्धिमत्ता का अधिष्ठान, अपनी क्षुद्रता और विशालता दोनों में अपूर्वानुमेय यह मनुष्य ही उसके सारे कुतुहल और जिज्ञासा का केन्द्र था और कथारस का आलम्बन भी।

अंग्रेजी साहित्य में झाँकने वाली खिड़की उनके जीवन में बहुत बाद में खुली, इतनी देर बाद, उसकी सीधी छाप ग्रहण करने की गुंजाइश तब उस तरह हो नहीं सकती थी। लेकिन अंग्रेजी के माध्यम से विश्व कथा–साहित्य का अंतरंग परिचय प्राप्त कर चुकने के बाद उनके लिए कहानी लिखना इतना कठिन हो गया कि वह विधा अपने आप छूट गयी और दस –पन्द्रह वर्षों तक छूटी रही। सन् 1970 के आस–पास वे फिर से कहानी की ओर लौटे तब उन्होंने पाया कि वे अपने भीतर चलने वाले एकालाप को ही कहानी की तरह पकड़ रहे हैं, और वही उनके लिए 'कहानी' है।

उपन्यासकर अपनी रचना में पात्रों की खोज करता है, वह उनका निर्माण नहीं करता। इस खोज में भी उसकी दृष्टि की ही प्रधानता रहती है। जीवन और जगत् के प्रति उसका जैसा दृष्टिकोण होता है, उसके पात्र उसी के आधार पर रूप पाते हैं। उपन्यासकार को यह बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए कि वह चाहे जिस प्रकार के पात्र प्रस्तुत करे, किन्तु सजीव बनाए रखने का प्रयत्न करे, जिससे ऐसा न प्रतीत हो कि कोई पात्र–विशेष जीवन और जगत् के यथार्थ से भिन्न है। दुर्बल से दुर्बल पात्र में कुछ सबलताएँ मिल जाती हैं और सबल से सबल पात्र में कुछ दुर्बलताएँ। उपन्यासकार प्रेमचन्द ने इसी बात को ध्यान में रख कर कहा है– ''चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह जरूरी नहीं कि वह निर्दोष हो– महान् से महान् पुरुषों में भी कुछ न कुछ कमजोरियाँ होती हैं। चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमजोरियों का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नहीं होती । बल्कि यही कमजोरियाँ उस चरित्र को मनुष्य बना देती है। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जाएगा और हम उसे समझ ही न सकेंगे। ऐसे चरित्र का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। हमारे प्राचीन साहित्य पर आदर्शों की छाप लगी हुई है। वह खेल, मनोरंजन के लिए न था। उसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन के साथ आत्म–परिष्कार भी था। साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। वह तो भाटों और मदारियों,

विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद कहीं इससे ऊँचा है। वह हमारा पथ–प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है, कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए। इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिए जरूरत है कि उसके चरित्र 'पॉजिटिव' हों, जो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकाएँ, बल्कि उनको परास्त करें, जो वासनाओं के पंजे में न फँसें, बल्कि उनको दमन करें, जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजयनाद करते हुए निकलें। ऐसे ही चरित्रों का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।

प्रेमचन्द ने आदर्श पात्रों की ओर संकेत किया है, यह एक पक्ष है। दूसरा पक्ष यह भी है कि ऐसे पात्र भी हो सकते हैं जो आदर्श से सर्वथा विपरीत हों, फिर भी उनके क्रियाकलाप और व्यवहार से जीवन के असत् पक्ष का ऐसा मार्मिक चित्रण हो सकता है जो पाठक को असत् से बचने और सत् को अपनाने की प्रेरणा दे सकता है। संसार में कोई दो व्यक्ति एक समान नहीं हो सकते। आचार–विचार, व्यवहार, रुचि–संस्कार सब के प्रायः भिन्न–भिन्न होते हैं। अतः उपन्यासकार इस वैभिन्य को अपनी रचना में सफलतापूर्वक योजित कर सकता है और जीवन का ऐसा चित्र प्रस्तुत कर सकता है जो सजीव और प्रामाणिक प्रतीत हो। आदर्श अथवा यथार्थ के निर्माण की धुन में उसे सजीवता को बलि–वेदी पर नहीं चढ़ाना चाहिए। पात्रों का विकास उनके परिवेश और वातावरण में ही दिखाना चाहिए, उनसे विच्छिना करके नहीं, अन्यथा उनको स्वाभाविकता समाप्त हो जाएगी। परिस्थिति–विशेष में पात्रों का चारित्रिक विकास आकस्मिक नहीं होने चाहिए। जो कुछ परिवर्तन दिखाए जाएँ, उनका पूर्वक्रियाओं से सम्बन्ध होना आवश्यक होता है। यह बात निश्चित है कि मानव का मानसिक व्यापार अत्यन्त जटिल और रहस्यमय होता है। कब, किन परिस्थितियों में कैसी प्रतिक्रिया हो सकती है, कुछ भी नहीं कहा जा सकता, किन्तु उपन्यासकार को अपने पात्रों के बारे में सब कुछ जानना चाहिए, उनके प्राणों के हर एक स्पन्दन से परिचित होना चाहिए। तभी वह औचित्य का निर्वाह कर सकता है और उसके पात्र सजीव तथा यथार्थ जगत् के प्रतीत हो सकते हैं ।

सारा काव्य–व्यापार कवि या लेखक का ही व्यापार है। वह अपनी इच्छानुसार अपनी विषय–वस्तु और पात्रों का सृजन करता है। सचमुच जीवन और जगत् के प्रति उसके दृष्टिकोण का व्यवस्थापन ही उसकी रचना है, किन्तु वह उसे इस रूप में व्यवस्थित करता है, जिससे वह यथार्थ जगत् का ही प्रतीत हो। इसीलिए वह पात्रों का सहारा लेता है। उसमें व्यवस्थापन की जितनी शक्ति होती है, उसके पात्र उतने ही यथार्थ जगत् के प्रतीत होते हैं। उसकी व्यवस्थापन की कला बहुत कुछ उसके जीवनानुभव पर निर्भर करती है। पात्रों का जीवन के अनुरूप होना तो वांछनीय होता ही है, किन्तु उनके चरित्र में एकरूपता भी होनी चाहिए। चरित्र का विकास अननुमेय तो होना चाहिए, किन्तु जिस दिशा में उसका विकास हो, वह अपरिहार्य प्रतीत हो। इसी कारण किसी भी पात्र के चरित्र में आकस्मिक परिवर्तन तब अग्रह और क्षोभकारी प्रतीत होता है, जबकि उसके लिए पहले से ही यथेष्ट भूमि निर्मित नहीं कर ली जाती और पात्र के विकास की अवस्था में ही बीज–रूप में ऐसी स्थिति की संभावना निहित न हो। एकरूपता से हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि पात्र आरम्भ में जैसा हो, वैसा ही अंत में भी हो, वरन् हमारा तात्पर्य यही है कि उसमें जो कुछ भी परिवर्तन हों, वे विभिन्न परिस्थितियों में हों और इस रूप में हों कि पाठकों को वे सर्वथा समीचीन और अपरिहार्य प्रतीत हों।

लेखक जिस प्रकार असंभाव्य घटना को इस रूप में प्रस्तुत कर सकता है कि बह संभाव्य प्रतीत हो, उसी प्रकार वह असंभाव्य चरित्र को भी प्रस्तुत कर सकता है, जिस पर भले ही पाठक पूर्णतः विश्वास न कर सके, किन्तु सम्भावना के रूप में ग्रहण कर ले। इस प्रकार के चरित्र उच्च कोटि का प्रतिभा सम्पन्न कलाकार ही प्रस्तुत कर सकता है। सामान्यतः ऐसे पात्र उस युग विशेष में पाठकों का उतना अधिक ध्यान आकृष्ट नहीं कर पाते, जितना कि सामान्य स्तर के समाज के उपरले स्तर के चरित्र या किन्तु कुछ समय के पश्चात् उनका मूल्यांकन अवश्य ही होता है ।

उपन्यासकार अपने समसामयिक जीवन से प्रभावित ही नहीं रहता, अपितु स्वयं भी वही जीवन जीता है। वह अपनी कथा–वस्तु कहीं से भी गृहीत कर सकता है, किन्तु उसे

वह अपने युग की आँखों से ही देखता है, अर्थात् उसकी युग–दृष्टि इतनी प्रभावशाली होती है कि वह अपनी रचना को उससे अस्पष्ट नहीं रख सकता या किन्तु उसे अपनी विषय–वस्तु और पात्रों को देश–काल की सीमा के अनुकूल रखते हुए भी सार्वजनीन और सार्वकालिक बनाने का प्रयास करना चाहिए। महान् कलाकार इस दिशा में यथेष्ट सफलता प्राप्त कर लेते हैं ।

पात्र या पात्रों के साथ तादात्म्य स्थिति का चरित्र– अन्वेषण की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थिति है। पाठक उसी या उन्हीं पात्रों के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकता है जो उसकी रागात्मक और बौद्धिक वृत्ति को प्रभावित कर सकें। जीवन से सीधे लिए गए सजीव पात्र ही अपनी समस्त क्रिया–प्रतिक्रिया की स्थिति में पाठक को अजनबी से नहीं प्रतीत हो सकते। उन्हें वह बहुत कुछ अपने से अभिन्न समझ सकता है। ऐसे पात्र पाठक पर अत्यधिक प्रभावछोड़ जाते हैं। आधुनिक युग में आलोचक तादात्म्य भाव को अधिक महत्व नहीं प्रदान करते। उनका मंतव्य है कि पाठक मानसिक दूरी बनाए रखकर तटस्थ भाव से ही कला–कृति का आस्वादन कर सकता है और तादात्म्य की स्थिति में वह रचनाकार या पात्र की पकड़ में आ जाता है तथा अपनी भाव–भूमि की समता पाकर अभिभूत हो उठता है। इस कारण उचित रूप में वह आस्वादन नहीं कर पाता। किन्तु कलास्वादन की स्थिति में ताटस्थ्य की तुलना में निर्वैयक्तिकता अधिक अनुकूल सिद्ध होती है और यह तादात्म्य की स्थिति में रहती हैं। साथ ही तादात्म्य स्थिति का आवश्यक गुण मानसिक दूरी भी है। अतः तादातम्य स्थिति को नकारा नहीं जा सकता। यदि उपन्यासकार मानव–भाव कोश की सूक्ष्मतम विच्छित्तियों को ध्यान में रखकर आधुनिक मानव को प्रस्तुत करेगा, जिसमें भावुकता की तुलना में बौद्धिकता स्वभावतः अधिक होगी और जिसकी संवेदना बुद्धि तत्त्व से अनुशासित होगी, उसके साथ पाठक की तादात्म्य–स्थिति अनिवार्य रूप में होगी और यदि पात्र भविष्य की सम्भावना के रूप में चित्रित होगा, तो भी पूर्णतः तादात्म्य न होने पर भी तादात्म्य का संस्पर्श तो अवश्य ही होगा। यह बात निश्चित–सी है कि समस्त पात्रों के साथ तादात्म्य सम्भव नहीं है। केन्द्रीय पात्र के साथ ही तादात्म्य है और वह लेखक की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि आधुनिक युग में उपन्यास पात्रों या चरित्रों का चित्रण नहीं करता। आधुनिक उपन्यास मानव–जीवन को छोड़कर सब कुछ चित्रित करता है। कुछ उपन्यास इस प्रकार के मिल भी जाते हैं। अब प्रश्न उठता है कि यदि उपन्यास पात्रों या चरित्रों का चित्रण नहीं करता तो उसे उपन्यास कैसे कह सकते हैं। या तो उपन्यास की परिभाषा परिवर्तित करनी होगी या उसका अत्यधिक विसतार करना होगा और दोनों दिशाओं में खतरे हैं। मानव का ज्ञान निरन्तर विकासमान है। वह उस ज्ञान को उपन्यास के माध्यम से व्यक्त कर सकता है। वह अपनी ही भावनाओं, संवेगों और मनः स्थितियों को अभिव्यक्ति दे सकता है, परन्तु शिथिल विन्यास में नहीं। उसे किसी न किसी पात्र को अपने विचारों और भावों का वाहन बनाना पड़ेगा। यदि किसी पात्र को माध्यम बनाए बिना वह ऐसा कुछ करता है तो उसकी रचना उपन्यास नाम से अभिहित नहीं हो सकती। शिथिल विन्यास और अन्विति का अभाव कुछ सीमा तक ग्राह्व है, क्योंकि उनके भीतर से भी केन्द्रीय विचार या भाव–भूमि का प्रकाशन हो सकता है। अतः आधुनिकतम उपन्यासों को प्रवृत्ति को देखते हुए यह स्पष्ट रूप में कहा जा सकता है कि उपन्यास मानव–जीवन से सम्बद्धं है और वह मानव के विचार और अनुभूति के प्रकाशन का साधन है। अतएव उसकी पात्र–विरहित स्थिति स्वीकार्य नहीं।

पात्रों के प्रकार– उपन्यास के पात्र सामान्य स्थिति में दो प्रकार के होते हैं– स्थिर और गतिशील। इन्हें अंग्रेजी में Flat और Round कहते हैं । सुविधा की दृष्टि से फ्लैट पात्र को चतुरस्त्र या 'टाइप' भी कह सकते हैं। स्थिर या चतुरस्त्र पात्र अपरिवर्तनशील होते हैं। आरम्भ से लेकर अंत तक उनके चरित्र में किसी प्रकार का परिवर्तन दृष्टिगत नहीं होता। ऐसे पात्रों में परिवर्तन नहीं होता। यदि परिवर्तन होता है तो इनके सम्बन्ध में पाठकों के ज्ञान में होता है। स्थिर या चतुरस्त्र पात्र व्यक्ति न होकर 'टाइप' होते हैं, अर्थात् किसी वर्ग–विशेष के प्रतिनिधि। टाइप वस्तुतः वह पात्र है, जिसमें वैयक्तिक और सामाजिक गुण की कुछ प्रधान विशेषताएँ युगपत् प्रस्तुत की जाती हैं। केवल सामाजिक विशेषताओं से सम्पन्न पात्र 'टाइप' नहीं हो सकता। उसका अपना निजी व्यक्तित्व होना चाहिए। किसी वर्ग के प्रतिनिधि वे इसलिए कहे जाते हैं कि उनमें वर्गगत गुण–दोष आदि स्पष्ट रूप में

परिलक्षित होते हैं, किन्तु उपन्यासकार उसकी समस्त विशेषताओं को आरम्भ में ही उद्घाटित नहीं कर देता, प्रत्युत कथानक के विकास के साथ, अन्य पात्रों के सान्निध्य में उसकी एक–एक विशेषता खुलती जाती है, पर उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। उसके सम्बन्ध में पाठकों की जानकारी बढ़ती जाती है। स्थिर पात्र समाजगत आशा–आकांक्षा, सुख–दुःख, रुचि–अरुचि आदि के प्रतिनिधि होते हैं। इस कारण पाठक उनमें अपनी समस्याओं को देख पाता है और उनके साथ सरलतया तादात्म्य स्थापित कर लेता है। स्थापित मूल्यों के अनुकूल होने के कारण ऐसे पात्र पाठकों को यथेष्ट रूप में प्रभावित करते हैं। परतु अच्छे उपन्यासों में गतिशील पात्रों का ही चित्रण होता है। प्रगतिवादी उपन्यासों में वर्ग – प्रतिनिधि 'टाइप' पात्रों को अधिक महत्त्व दिया जाता है, क्योंकि उनके माध्यम से ही वर्ग की भावनाओं को अच्छी अभिव्यक्ति हो सकती है और ऐसे पात्र पाठकों पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाते हैं।

गतिशील पात्र– गतिशील पात्र आरम्भ में जो रहता है, वही अंत में नहीं रह जाता। इस पर अपनी परिस्थितियों एवं अपने परिवेश का प्रभाव पड़ता है। वह अपनी परिस्थितियों को बदलने का प्रयत्न करता है और यथावसर परिस्थितियों के अनुसार बदल भी जाता है। स्थिर पात्रों के समान इनका कोई रूप निर्धारित नहीं रहता और इनके विकास की कोई सीमा नहीं रहती। स्थिर पात्र टूट सकते हैं, किन्तु बदल नहीं सकते, जबकि गतिशील पात्र अपने आपको परिस्थितियों के अनुकूल करने का प्रयत्न करता है। विभिन्न परिस्थितियों में जो क्रिया– प्रतिक्रिया होती है, इस पर प्रभाव पड़ता है। ऐसे पात्र के माध्यम से उपन्यासकार जीवन की अनुभूतियों को अभिव्यक्त कर सकता है। आंतरिक कारणों पर प्रकाश डालते हुए वह असंख्य अनुभूतियों को योजित कर सकता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में पात्रों की योजना अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती है। उपन्यासकार उनके मनोविश्लेषण माध्यम से बहुत कुछ कहने का अवसर प्राप्त कर लेता है।

पात्रों का एक नया प्रकार आधुनिक उपन्यासों की विशेषता है जिसे प्रतीक पात्र कहते हैं। प्रतीक पात्र उपन्यासकार के विचार, जीवन–दर्शन आदि का प्रतिनिधित्व करते

हैं। यदि ये प्रतीक पात्र विचार और जीवन–दर्शन के वाहन मात्र होते हैं तो उबाने वाले सिद्ध होते हैं, किन्तु यदि ये युग–सत्य के उद्‌घाटन के साधन बनकर आते हैं तो पाठकों पर इनका आत्यंतिक प्रभाव पड़ता है। युग चेतना की अभिव्यक्ति के ये अच्छे साधन होते हैं, परन्तु इनकी योजना में अतिरिक्त सावधानी अपेक्षित होती है।

चरित्र चित्रण की विधियाँ– कुछ लोग चरित्र–चित्रण की अंतरंग, बहिरंग और नाटकीय तीन प्रकार की विधियाँ मानते हैं और बहिरंग चित्रण में पात्रों के नामकरण, आकृति–वेशभूषा, अनुभाव चित्रण आदि को ग्रहण करते हैं और आंतरिक चित्रण में मानसिक वृत्तियों के विश्लेषण को महत्त्व प्रदान करते हैं तथा नाटकीय चित्रण में कथानक, कथोपकथन आदि के आधार पर अपने आप चरित्र पर प्रकाश पड़ जाता है। जहाँ तक बहिरंग चित्रण का प्रश्न है वह अपने आप में स्थूल है। वस्तुतः वह चरित्र–चित्रण का कोई अच्छा साधन नहीं है और उससे चरित्र के महत्त्व पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। इस कारण हम सामान्य रूप में स्वीकृत चरित्र– चित्रण की दो विधियों का ही यहाँ निरूपण करेंगे। अंतरंग विधि को ही हम विश्लेषणात्मक विधि कह सकते हैं और दूसरी विधि नाटकीय है, जिसे अभिनयात्मक भी कहते हैं।

विश्लेषणात्मक विधि– विश्लेषणात्मक विधि को उपन्यासकार सर्वज्ञता की स्थिति में अपना सकता है। ऐसी स्थिति में वह अपने पात्र के समस्त पक्षों को सरलता से देख सकता है और यथावसर विस्त्रब्ध भाव से उन्हें उद्‌घाटित कर सकता है। नाटककार की तुलना में उपन्यासकार अधिक अच्छी स्थिति में रहता है। उसे व्याख्या और टीका–टिप्पणी करने की पूरी स्वतंत्रता रहती है। वह अपने पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को पूरी कुशलता से उद्‌घाटित कर सकता है। नाटककार को इस प्रकार की सुविधा नहीं प्राप्त होती। विश्लेषण एक ऐसा साधन है, जिसके आधार पर उपन्यासकार गतिशील पात्रों का निर्माण कर सकता है और यथावसर पात्रों के मनोवेगों, भावों, आवेगों आदि पर प्रकाश डालकर अपने चित्रण को गम्भीर और व्यापक बना सकता है। आधुनिक मनोविज्ञान चरित्र–चित्रण में अधिक सहायक सिद्ध हुआ है। मानव–मन की बहुत सारी गुत्थियाँ सामने

आई हैं। अब यह अनुभव होने लगा है कि मनुष्य का जो रूप प्रकट है, उससे उसका अप्रकट रूप अधिक बड़ा और गहन है। मानव के चेतन से उसका अचेतन अधिक महत्त्वपूर्ण है जो उसके कार्य व्यापार को सर्वदा प्रभावित करता रहता है। उपन्यासकार विभिन्न प्रणालियों से अपने पात्रों के चेतना–अचेतन मस्तिष्क के बहुत सारे पक्षों का विश्लेषित कर उनके चरित्र के सूक्ष्मतम तत्त्वों को उद्‌घाटित कर देता है। विश्लेषण–पद्धति में लेखक को यह ध्यान रखना चाहिए कि वह जिस किसी तत्त्व को प्रकाशित करे, उसे वातावरण और परिस्थिति के अनुकूल स्थिति में करे, विश्लेषणात्मक चरित्र–चित्रण उसी आधार पर स्वाभाविक हो सकेगा।

नाटकीय अथवा अभिनयात्मक विधि– इस प्रकार का चरित्र चित्रण अधिक स्वाभाविक और कलात्मक होता है। लेखक अपनी ओर से मौन रहता है। पात्र ही आगे बढ़कर विविध परिस्थितियों और घटना चक्रों में अपने वैशिष्टय–दौर्बल्य को प्रकट कर देते हैं। उनके पारस्परिक कथनोपकथन से भी उनके मनोभाव, राग–द्वेष, रुचि–अरुचि आदि व्यक्त हो जाते हैं।

घटनाओं द्वारा चरित्र चित्रण– परिस्थितियों और घटना चक्रों में पड़कर पात्र अपनी जैसी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है, वह उसके चारित्रिक घटक की परिचायिका होती है। घटना से व्यक्ति का चरित्र ही उद्‌घाटित नहीं होता, वरन् उसका चरित्र परिष्कृत भी होता है। घटनाएँ उपन्यास के कार्य व्यापार को ही गति नहीं देतीं, प्रत्युत पात्रों के चरित्र विकास और उसके विविध पक्षों के उद्‌घाटन में भी सहायक सिद्ध होती हैं।

कथोपकथन द्वारा चरित्र चित्रण– कथोपकथन की योजना एक तो स्वाभाविकता लाने के लिए होती है और दूसरे पात्रों के चरित्र उद्‌घाटन के लिए। विश्लेषण से लेखक जो कुछ नहीं कह पाता, उसे पात्र अपने स्वाभाविक संवाद में कह देते है। संवाद की स्थिति में अन्मुक्तता रहती है। इस कारण पात्र बहुत सारी ऐसी बातें कर जाते हैं जो अन्य स्थिति में संभव नहीं और उन बातों से उनकी शारिरिक दुर्बलता–सबलता अधिक सूक्ष्मता से प्रकट हो जाती है। वर्तमान काल में संबादों की योजना होने के कारण उनमें

स्वाभाविकता और विश्वसनीयता अधिक भाषा में होती है और उनका प्रभाव पाठकों पर अच्छा पड़ता है।

उद्धरण शैली, डायरी शैली, पत्रात्मक शैली आदि का प्रयोग पात्रों के चरित्र चित्रण के लिए किया जाता है, किन्तु इन सबकोपृथक्–पृथक् रखना आवश्यक नहीं है। ये सब विश्लेषणात्मक विधि ही में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं ।

उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उसमें चरित्र चित्रण के लिए अधिक अवकाश रहता है। नाटक की ऐसी स्थिति नहीं होती। नाटक में प्रत्यक्ष रूप में ही चरित्र चित्रण का अवसर रहता है, जबकि उपन्यास में प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष दोनों रूप में चित्रण किया जा सकता है। कार्य व्यापार की प्रमुखता और प्रत्यक्ष दर्शन के कारण नाटक के पात्र अधिक प्रभावशाली सिद्ध होते हैं और इस प्रकार की प्रभावशालिता की निर्मित के लिए उपन्यासकार को और अधिक व्यापक भूमि अपनानी पड़ती है। जहाँ नाटक में कार्य व्यापार की प्रधानता होती है, वहाँ उपन्यास में चरित्र के आंतरिक कार्य व्यापार की प्रधानता होती है। यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्रत्येक प्रकार के उपन्यास में किसी न किसी रूप में चरित्र की अवस्थिति होती है, किन्तु वही उपन्यास साहित्य की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है, जिसमें चरित्र की प्रधानता होती है। उपन्यासकार अपने पात्रों की मानसिक भूमियों का उद्घाटन कर पाठक के सामने ऐसी नई और विस्मयकारी वस्तुओं को प्रस्तुत कर सकता है, जिन्हें देखकर वह विमुग्ध हो सकता है। वह अभिनयात्मक और विश्लेषणात्मक पद्धति को अपना कर नवीन सौन्दर्य–सृष्टि कर सकता है, जबकि नाटककार के लिए इतनी अधिक सुविधा नहीं होती। विश्लेषणात्मक पद्धति उपन्यासकार के लिए विशेष वरदान है, किन्तु उसके दुरुपयोग की भी संभावनाएँ अधिक हैं। यदि उपन्यासकार परिस्थिति और वातावरण को ध्यान में रखे बिना ही इस पद्धति का उपयोग करता है तो उसकी सारी निर्मिति अस्वाभाविक और कृत्रिम हो जाएगी। साथ ही विश्लेषण की जिस पद्धति को वह अपना रहा है, वह स्थिति विशेष में उपर्युक्त है या नहीं। विश्लेषण की धुन में जब लेखक लम्बे–लम्बे संवाद, व्याख्यान, पत्र आदि को अपनी रचना प्रणाली में

उनकी स्वाभाविकता पर विचार किए बिन योजित करने लगता है तो उसकी सारी योजना नीरस हो जाती है और इस प्रकार उसके उद्देश्य क्षतिग्रस्त हो जाता है। मनोविज्ञान ने लेखक को बहुत ही व्यापक और महत्त्वपूर्ण भूमि प्रदान की है। यदि वह सावधानी से उसका उपयोग कर सके तोपात्रों के चरित्र के अनेक आयाम सुन्दर रीति से उदघाटित हो सकते हैं और जीवन को नये सिरे से समझने का अच्छा अवसर प्राप्त हो सकता है। इसके लिए विश्लेषणात्मक पद्धति ही अधिक उपादेय सिद्ध हो सकती है।

चरित्र चित्रण की विशेषताएँ– उपन्यासकार अपने पात्रों की निर्मिति और अन्वेषण में स्वतंत्र होता है। उसके पात्र प्रायः इस प्रकार के होते हैं कि वे सहज रूप में उसकी व्यापक अनुभूति के वाहक बन सकें। तथापि अपनी रचना को सुन्दर और पूर्ण बनाने के लिए लेखक को कुछ मूलभूत विशेषताओं की ओर ध्यान देना पड़ता है। मौलिकता, स्वाभाविकता, अनुकूलता, सजीवता, आदि ऐसे गुण हैं जो चरित्र चित्रण को अधिक व्यवस्थित और मार्मिक बना सकते हैं ।

मौलिकता– रचना प्रक्रिया में मौलिकता का एक बहुत बड़ा महत्त्व होता है। कथानक को मौलिकता सबसे महत्त्वपूर्ण होती है, जिसमें लेखक का दृष्टिकोण विशेष रूप से अपना महत्त्व रखता है। एक ही कथानक दो या तीन या अधिक लेखकों के हाथ में पड़कर जितना अधिक प्रतिभा सम्पन्न होगा और जिसका निर्माण–कौशल जितना परिपाक्क होगा, उसके पात्र उतने ही मौलिक होंगे। पात्र का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व होना चाहिए और वह व्यक्तित्व इतना स्पष्ट और प्रभावशाली होना चाहिए कि पाठक चाहे तो कल्पना की आँखों से उसे प्रत्यक्ष देख ले। जिस प्रकार कोई दो व्यक्ति रूप–आकार, रुचि व्यवहार आदि में एक समान नहीं होते, उसी प्रकार दो पात्र भी एक समान नहीं होने चाहिए। एक बात अवश्य है कि मौलिकता की धुन में लेखक क2ो ऐसे पात्रों का सृजन नहीं करना चाहिए जो इस संसार के ही प्रतीत न हों। वह ऐसे पात्रों का निर्माण कर सकता है जो भूत या वर्तमान के प्राणी न हों, किन्तु भविष्य में जिनकी संभावना हो। परन्तु मानवीय भाव

का संस्पर्श अपेक्षित रूप में होना चाहिए, अन्यथा दारु–पुत्तलिका के समान वे पात्र क्रीड़ा–कौतुक ही सिद्ध होंगे।

स्वाभाविकता– पात्र स्वाभाविक तभी प्रतीत हो सकते हैं, जब कि वे हमारे बीच के ही प्रतीत हों। उन्हें अतिमानवीय प्रवृत्तियों से युक्त दिखना उचित नहीं होता। बहुत से लेखक आदर्श के निर्माण की धुन में अपने पात्रों में अत्यधिक गुण आरोपित करने लगते हैं। इस कारण वे पात्र कुछ अविश्वसनीय और अस्वाभाविक प्रतीत होने लगते हैं। पात्र ऐसे होने चाहिए कि पाठक उनकी उँगलियाँ पकड़ कर जगत् का भ्रमण कर सके, जीवन जगत् के बहुत सारे रहस्यों को उनके माध्यम से जान सके और उन्हें अपना मित्र समझ सके। इसी प्रकार किसी पात्र की चारित्रिक दुर्बलता दिखाने के लिए उसमें सभी प्रकार के दुर्गुणों को दिखाना भी प्रभाव की दृष्टि से उचित नहीं होता। दुर्गुणों के साथ कुछ गुणों को भी स्थिति हो सकती है, जिनसे वह धरातल पर प्रतिष्ठित हो सकता है और मानवीय भावों के संस्पर्श के बिना वह नहीं बन सकता और उसका चारित्रिक विकास स्वाभाविक नहीं प्रतीत हो सकता। स्वाभाविकता के लिए यह आवश्यक है कि लेखक अपनी आँखें खुली रखे और जीवन से ही ऐसे पात्रों को ग्रहण करे जो हमारे समान ही हाड़–माँस के पुतले है, जिनके अपने सुख–दुःख हैं, अपनी रुचि– अरुचि है और अपनी भावनाएँ हैं ।

अनुकूलता– परिस्थिति और वातावरण के अनुकूल ही पात्रों का विकास होना चाहिए। परिस्थिति की बाध्यता कुछ दूसरी हो और पात्र किसी दूसरी दिशा में प्रयुक्त हों, इसका उपन्यास की रचना पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार चरित्र का विकास कथानक के विकास में सहायक होना चाहिए। उसके कारण कथानक के प्रवाह में किसी प्रकार का व्यतिक्रम नहीं आना चाहिए। परिस्थिति, देश काल और कथानक के अनुकूल पात्रों की स्थिति स्पृहणीय होती है।

सजीवता– स्वाभाविकता में ही हम कह आए हैं कि पात्रों का सम्बन्ध हमारे जीवन से होना चाहिए। वे हमारे जाने–पहचाने होने चाहिए और उनमें मानवीय भावना का ऐसा सस्पर्श होना चाहिए कि वे पाठक को अजनबी जैसे प्रतीत न हों। यदि पात्र उपन्यास में

मानवीय धरातल पर प्रस्तुत किए जाते हैं और मानवीय भाव–संस्पर्श से सम्पन्न रहते हैं तो वे निश्चय ही सजीवता सम्पन्न रहेंगे तथा पाठकों पर उनका विध्यात्मक प्रभाव पड़ेगा।

पात्रों के चित्रण में उपन्यासकार को सहृदयता रखनी चाहिए। अपने किसी सिद्धांत विशेष को प्रतिष्ठा के लिए उसे अपने पात्रों का गला नहीं घोटना चाहिए। पात्र के किसी प्रकार के विकास या परिवर्तन को दिखाने के लिए उसे यथेष्ट कारण उपस्थित करने चाहिए। चरित्र चित्रण का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और विशाल है। लेखक को अपनी प्रतिभा के उन्मुक्त प्रयोग के लिए यह क्षेत्र अत्यन्त उर्वर है। वह किसी भी रूप में मानवीय संवेदना को केन्द्र में रख कर अपने पात्रों का निर्माण कर सकता है। इन विधाओं के अतिरिक्त अनौपचारिक विधाऔं, यात्रावृत्त, डायरी, संस्मरण तथा पत्राचार–में भी शाह निरन्तर सक्रिय रहने की जरूरत महसूस करते हैं।

2.3 कृतित्व

श्री शाह को यदि रचनाकार के नजरिये से देखे तो साहित्य की कोई विधा शायद उनसे छूट नहीं पाई उन्होंने साहित्य के हर क्षेत्र में सर्जना की चाहे वह काव्य हो, समालोचन निबंध, कहानी उपन्यास या नाटक हो। अनुवादक के रूप में भी उनका महत्वपूर्ण अवदान हैं उन्होंने यात्रावृत, डायरी और पत्रलेखन भी किया है। 1952 में उनकी पहली कविता 'देवदारू शक्ति' साप्ताहिक में प्रकाशित हुई जो अल्मोड़ा से छपता था।

प्रमुख कृतियाँ

➢ काव्य संग्रह

क्रम.सं.	काव्य का नाम	वर्ष
1.	कछुए की पीठ पर	1974
2.	हरिश्चंद्र आओ	1980
3.	नदी भागती	1988
4.	उकाव हुलार (कुमाऊँनी कविता संग्रह) प्यारे मुचकुंद को	1993
5.	चाक पर	1998
6.	देखते है शब्द भी अपना समय	2000
7.	टनागरिक	2004
8.	आधुनिक कविमाला	2010

➢ यात्रावृत

क्रम.सं.	नाम	वर्ष
1.	एक लंबी छाँह	2000

➢ साहित्यालोचन

क्रम.सं.	नाम	वर्ष
1.	स्मानांतर	1973
2.	वागर्थ	1974
3.	सबद निरंतर	1979
4.	भूलने के विरूध्द	1981
5.	अज्ञेयः वागार्थ का वैभव	1987
6.	स्वांदी	1990
7.	अज्ञेय (विनिबंध)	1995
8.	छायावाद की प्रासंगिकता	1998
9.	जयशंकर प्रसाद – विनिबंध	2005
10.	आलोचना का पक्ष	1990

➢ अनुवाद

क्रम.सं.	नाम	वर्ष
1.	मटिया बुर्ज (राशोमन का अनुवाद)	1990

➢ **उपन्यास**

क्रम.सं.	**नाम**	**वर्ष**
1.	गोबर गणेश	1978
2.	किस्सा गुलाम	1986
3.	पूर्वापर	1986
4.	आखिरी दिन	1992
5.	पुनर्वास	1995
6.	आप कहीं नहीं रहते विभूति बाबू	2001
7.	सफेद परदे पर	2006
8.	कमबख्त इस मोड़ पर	2007
9.	विनायक	2010
10.	असबाब–ए–वीरानी	2010
11.	कथा सनातन	2012

➢ संपादित कृतियाँ

क्रम.सं.	नाम	वर्ष
1.	जड़ की बात	1986
2.	प्रसाद रचना संचयन	1991
3.	अज्ञेय काव्य स्तबक	1995
4.	निराला संचियता	2001
5.	सर्वविधा संकलन	———
6.	बहुवचन	1998
7.	मेरे साक्षात्कार	2004

➢ डायरी

क्रम.सं.	नाम	वर्ष
1.	अकेला मेला	2009
2.	इस खिड़की से	2010

➢ निबंध संग्रह

क्रम.सं.	नाम	वर्ष
1.	रचना के बदले	1969
2.	रचना के बदले – 2	1980
3.	आडू का पेड़	1984
4.	पढ़ते–पढ़ते	1987
5.	स्वधर्म और कालगति	1996
6.	स्वाधीन इस देश में	1996
7.	हिन्दी की दुनिया में	2002
8.	देहरी की बात	2007
9.	अगुन–सगुन बिच	2009
10.	नेपथ्य	2011

➢ नाटक

क्रम.सं.	नाम	वर्ष
1.	मारा जाई खुसरो	1982

➢ अंग्रेजी में प्रकाशित ग्रंथ

क्रम.सं.	नाम	वर्ष
1.	येट्स एड़ इलियटः पर्सपैक्टव्ज ऑन इंडिया	1983
2.	ऐनसेस्ट्रल वॉयसेस	2001
3.	दस स्पोक भर्तृहरि	2009
4.	पूर्वापर (बिफोर एंड आफ्टर)	2009
5.	जयशंकर प्रसाद (विनिबंध)	1978

➢ बाल साहित्य

क्रम.सं.	नाम	वर्ष
1.	गोलू के मामा	1984
2.	जादू सपना	1991
3.	हाथी की करतूत	2004
4.	नाना के गीत	2010
5.	दो बाल नाटकः 'फाटक' तथा 'टिम्बकटू'	2012

➢ **कहानी संग्रह**

क्रम.सं.	नाम	वर्ष
1.	जंगल में आग	1978
2.	मानपत्र	1982
3.	मेरी प्रतिनिधि कहानियाँ	1992
4.	थिएटर	1994
5.	चर्चित कहानियाँ	1988
6.	मुहल्ले का रावण	1998

निबंध संग्रह

निबंधकार के रूप में शाह की रचना–दृष्टि पर स्वःसर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने रचना के बदले संग्रह की समीक्षा करते हुए लिखा 'एक विषय के चारों ओर अनेक स्तरों पर मन स्थितियों की अनेक करवटों के साथ अनुभव और अध्ययन, भाव व विचार का गुम्फन आसान काम नहीं। सफल निबन्ध आपके अनुभव जगत् को तो उदवेलित करते ही हैं, आपके ज्ञान–क्षेत्र का भी विकास करते हैं।'....16

- **'दो नगरों की कथा'** में लेखक नैनीताल और अल्मोडा दोनों नगरों की तुलना करता है। नैनीताल इनका ननिहाल और अल्मोडा उनका घर था। 'अल्मोडे की चगल दृ–पहल' बहुत आकर्षक न होने के बावजूद सत्य और सदाबहार है, जबकि नैनीताल की रौनक कई गुना अधिक जीवन्त और चमत्कारिक लगती हुई भी जादू की तरह क्षणभंगुर है'।

- **'भगति नारदी'** निबंध में लेखक नारद की भक्ति पर प्रकाश डालता है। हमारे धार्मिक साहित्य में नारद का चरित्र ऐसा चरित्र है जो स्वतन्त्र बुद्धि का है जो भगवान को भी रीडा–खीडा के एक ऐसे अनूठे रिश्ते में बाँधे रह सके कि बिना उसकी संगति में मन ही न लग सके।

कहानी संग्रह

श्री शाह की कहानियों की अपनी ही विशेषता है। उनकी कहानियों में थोथी भावुकता नहीं मिलती। अपनी कहानियों की दुनिया में शाह अपने नए अन्दाज में प्रस्तुत होते हैं। इनके कहानी संग्रहों में संभावनाएँ कूट–कूट कर भरी हुई है। ये मानवीय चरित्र और मानव नियति के प्रश्नों से भी उलझती है। जंगल में आग, मानपत्र, थिएटर, मुहल्ले का रावण, गेटकीपर आदि इनके कहानी संग्रह है। 'जंगल में आग' उनका प्रथम कहानी संग्रह है। 1973 में कहानी (मासिक) पत्रिका की सर्वश्रेष्ठ कहानी का पुरस्कार जीत कर हिन्दी कहानी जगत का ध्यान आकृष्ट किया था। 'जंगल में आग' में अपनी प्रारम्भिक कहानियों से लेकर अपने कथ्य और शिल्प विशेषतः भाषा संस्कार के कारण ताजेपन का एहसास कराती है।

मानपत्र नामक कहानी संग्रह में मानपत्र, अन्धकूप, इस वक्त भालेराव, गाँव की नदी, केयरटेकर, जाने कब से धरना, किस्सा मालगाँव का, अभिभावक, चिठ्टियाँ, जंगल में एक डायरी आदि संकलित हैं। मानपत्र कहानी में लेखक ने सोहन चाचा का वर्णन किया है। अभिभावक कहानी में एक पिता अपने बचपन में शिक्षा बोझ बन गई है और तुलनात्मक चित्रण किया है। जंगल में एक डायरी में लेखक समाज में असामाजिक तत्वों की जो बाढ़ सी आ गई है। उसका वर्णन करता हैं और इन तत्वों पर समाज की कोई बंदिश नहीं है या भी वह दिखाता है।

समकालीन कहानी के किसी भी पूर्वाग्रह युक्त विवेचन केलिए श्रीशाह की कहानियों की उपेक्षा करके निकल जाना संभव नहीं होगा। इनकी कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये अपने कथ्य और शिल्प विशेषताः भाषा संस्कार के कारण बहुत जीवन्त लगती

हैं और कहीं न कहीं पाठक को देर तक बाँधे रखने की क्षमता रखती है। इन कहानियों में समकालीन जीवन का बहुआयामी यथार्थ अपनी पूरी सच्चाई में अंकित हो सकता है।

काव्य संग्रह

रमेशचन्द्र शाह अनेक विधाओं में सृजनशील हैं और वे विपूल लेखन करने वाले लेखकों की श्रेणी में हैं। किन्तु इस लेखन में कविताओं की संख्या कम तथा कथा कृतियों और निबन्ध, आलोचनात्मक कृतियों की संख्या अधिक है पर विषय वैविध्य का जहाँ तक प्रश्न है वहाँ वे किसी अन्य विधा से कम नहीं है। वे कई विषयों, प्रश्नों परिस्थितियों के प्रति उन्मुख रहते हैं। इनकी कविताओं में एक ओर प्रकृति सौन्दर्य बोध की कवितायें है तो दूसरी ओर आधुनिक संस्कृति के संकट को अभिव्यक्ति देती कविताएँ हैं तो चौथी ओर पौराणिक विषयों को आधुनिक बिम्बों में अपनी कविता में प्रस्तुत किया है।

रमेशचन्द्र शाह की कविताएँ उन कई स्त्रोतों से सन्दर्भ ग्रहण करती हैं। जिनसे भारतीय जनमानस का न केवल वर्तमान और भीतर यथार्थ बनता है बल्कि उसके ऐतिहासिक, नैतिक आध्यात्मिक और पौराणिक संस्कार भी संकेतित होते हैं नदी के कई बिम्ब और प्रतीक उनकी कविताओं में हैं लेकिन नदी केवल एक भौतिक यथार्थ नहीं है उसका वृहत्तर सन्दर्भ वर्तमान से लेकर इतिहास और पुराणों तक फैला है। इस संग्रह की कविताएँ काव्यकर्म की जटिलताओं और समकालीन समाज में काव्यरूप के रचाव की कठिनाइयों को चकित कर देने वाली सरलता के साथ दिखाई देती है।

उपन्यास

इनके उपन्यासों में गोबर गणेश, किस्सा गुलाम, पूर्वापर, विनायक, पुनर्वास, आखिरी दिन, आप कहीं नहीं रहते विभूति बाबू, सफेद परदे पर, कमबख्त इस मोड़ पर, असबाब ए वीरानी आदि हैं। रमेशचन्द्र शाह के गोबरगणेश के केन्द्र में एक बालक है। उसमें जीवन फलक बचपन का अतिक्रमण करके वयस्कता तक फैला हुआ है और बचपन में ही मानसिकता के सूत्रों को पहचानने की कोशिश है जो एक व्यक्ति के वयस्क होने पर उसके जीवन और चरित्र के नियामक हो जाते हैं।

हिन्दी उपन्यास जगत में संवेदना और संबंध के स्तर पर जो परिवर्तन आया है। उसकी महत्वपूर्ण अनुगूंज किस्सा गुलाम में सुनाई देती है। रचनात्मक पुराने चश्मों, मूल्यों, मान्यताओं, सिद्धांतों, आदर्शों को खूंटी पर टाँग कर नए सिरे स्थिति को परिभाषित करता है गुलामी के संस्कारों में जकड़ी पीढियों की मनोभूमिका को आंतरिक कशमकश और एक मौन चीख से अभिव्यक्त किया गया है।

- **गोबरगणेश (1978) –** यह उपन्यास बाल मनोविज्ञानिक है। प्रारंभ में विनायक नामक बालक का व्यवहार परिवार में, स्कूल में और दोस्तों के साथ ही हुआ था। बच्चों के स्वभाव का प्रारंभ घर से ही शुरू होता है। बच्चों के प्रति ममता का भाव, शुरू में मनोविज्ञानिक दृष्टिकोण है, बाद में परिवार और संस्कृति और धार्मिक वर्णन है। अंत में सच्चे प्रेम का चित्रण भी है।
- **किस्सा गुलाम (1986) –** उपन्यास के नाम से ही पता चलता है कि यह गुलामी जीवन की कहानी है। वह जीवन में शुरू से शर्मीला और संकोचित स्वभाव इसके कारण वस जीवन में बदलाव आया। यह गुलाम की गाथा है। किस्सा गुलाम उपन्यास में प्रमुख विषय पिता–पुत्र के बीच के रिश्ते की चीर्चा भी है। साथ साथ पति–पत्नी के प्रेम की बारे में चर्चा भी है। यह सभी घटनाएँ की विवरण और समाज में फैले हुए गुलामी की कहानी है। राजनीति में गुलामी का चित्रण भी है।
- **आखिरी दिन (1992) –** आखिरी दिन, हाँ सच में आखिरी दिन की बात, आखिरी दिन ही सोच है, मौत हाथ में हो तो हम सब डर का महसूस करते हैं। हम कोई बड़ा बुध्दिमान हो, बलवान हो, अमीर हो, गरीब हो सब के मन की सोच की बात है यह उपन्यास। इनसान और जीवन के बारे में हैं। अपने जीवन और मृत्यु के बीच में हर घटना का स्मरण चित्रण हैं। आखिरी दिन में नायक अपने जीवन के बारे में सोचता है। आतंकवाद, धर्म और समाज के विभिन्न विषयों के बारे में इस कहानी में चर्चा मिलती हैं।

- **पूनर्वास (1995)** – पूनर्वास–पुनः बसना, हर बार न रह जाने पर अथवा छीन लिये जाने पर फिर नया घर आदि बनाके रहना। उजडे हुए लोगों को फिर से बसाना या अनात करना। यही सच है कि इस उपन्यास में नायक दीनानाथ के जीवन में पूर्नवासना फिर वह अपने घर वापस आना, यही इस उपन्यास की कहानी है। जीवन के पुनर्जन्म की कहानी है। नायक अपने पुनर्जन्म का महसूस करता है। कहानी में अच्छे मित्रता, स्त्री पुरूष संबन्ध और राजनीति वर्णन भी है।

- **आप कहीं नहीं रहते विभूति बाबू (2001)** – मनोविज्ञानिक कहानी हैं। उपन्यास में भी नायक अपने बारे में सोच रहा था, तब उन्हें नजर में यह संदेह आता है, परमात्मा या भगवान कौन हैं? और इनसान कौन है? उसके छोटी उमर में ही धर्म का पालन अपनी माँ से ही सीखता है। उन्होंने बहुत सारी कहानियाँ भी सूनी थी, इसीलिए छोटी उमर से ही यह संदेह बैठ गया था, उपन्यासकार ने जीवन की घटनाओं को हर एक शुर्षक के नीचे दिया हैं। इस में परिवार, धर्म और राजनीति भी मेलजूल हैं।

- **सफेद परदे पर (2006)** – दत्ता जी सहज और गंभीर हैं। अनावश्यक कुतुहली नहीं। अपना परिवार छोड़कर फलेट में अकेले रहता हैं। लगता है, वे अंतर्यामी हैं। उन्हें सब कुछ पता है और उन्हें कुछ भी अस्वाभाविक या आश्चर्यजनक नहीं लगा। वे अकेले हैं, इस अकेलेपन के कारण वे जीवन में विरक्त हो जाते हैं। वृध्दावस्था और पति पत्नी स्नेह की कहानी है। बीच में एक स्त्री की अकेलापन की कहानी भी हैं। परिवार, संस्कृति और धर्म वर्णन हैं।

- **कम्बखत इस मोड़ पर (2007)** – इस उपन्यास में पारिवारिक चर्चा और स्त्री, पुरूष सम्बन्ध में वे समाज से कैसे जुड़े है, इसकी चर्चा है। बाद में पिता पुत्र के संबंध में संवाद, उन दोनों के बीच में रिश्ते के बारे में चर्चा है। उपन्यास में शुरू से अंत तक पिता अपने अनुभवों को पुत्र से बोलता है। परिवार में अच्छे पुत्र और पिता की कहानी है। जीवन की हर घटना के द्वारा बेटे को समझाता है। परिवार और अच्छे पुत्र, पिता की कहानी हैं।

- **विनायक (2010) –** गोबरगणेश उपन्यास की उत्तर कथा हैं। इसका नायक विनायक उर्फ विनू, वह हमेशा दोस्तों के साथ समय बिताता है। उसके मन में आशा है कि वह बहुत नामी साहित्यकार बने, कवि बने। इसलिए किशोरावस्था से ही उसने अपने दोस्तों के साथ एक पत्रिका निकाली थी। शकुंतला उर्फ मिसेज दुबे उपन्यास में मुख्य नारी पात्र है जो ऊँची चिन्तनवाली है, वह हमेशा सकारात्मक ढंग से भविष्य के बारे में सोचती है। स्त्री, पुरूष संबन्ध, परिवार और पति पत्नी रिश्ता, और अच्छे मित्रता के बारे में हैं। साथ साथ धर्म और अंत में राजनीति वर्णन भी हैं।
- **कथा सनातन (2012) –** उपन्यास की शुरू आत में उनके स्वप्न से ही है, अपना स्वप्न ही दृश्य से शुरू होता है। इसमें कुल तेईस अंक हैं। नींद से जगने के बाद भी उस स्वप्न की याद है, मगर वह उस स्वप्न से नहीं जगा है। एक सुबह नीद से जगे नायक अपने स्वप्न को एक कहानी द्वारा बताया गया हैं। उसके स्वप्न, अपने जीवन का प्रश्न है। मैं कौन हूँ? समाज और संस्कृति, धर्म की चर्चा हैं। इसमें अपने भविष्य की सोच ज्यादा हैं।
- **असबाब–ए–वीरानी –** प्रेम भाव की कहानी है असबाब–ए–वीरानी, दाम्पत्य प्रेम भाव, पति, पत्नी प्रेम भावना साथ साथ धर्म वर्णन उपन्यास में मिलता है। परिवार और पित, पत्नी प्रेम भाव की कहानी है। बीच बीच में स्त्री पुरूष संबन्ध का संवाद मिलता हैं।

आलोचना और नाटक

भूलने के विरुद्ध, आलोचना का पक्ष, असाध्यवीणा एक अध्ययन, समय संवादी, छायावाद की प्रांसगिकता आदि उनके आलोचना संग्रह है। श्रीशाह की आलोचना में उनकी चिंतन प्रक्रिया लगातार सक्रिय रहती है वे जब किसी एक बिन्दु पर विचार कर रहे होते हैं तो उससे सम्बद्ध उनके विचार बिन्दू उनके मानस में बुलबुलों की तरह उठते रहते है और किसी एक कवि की एक पंक्ति के विश्लेषण में दूसरे कवियों की अनेक काव्यपंक्तियों इनके भीतर गूँजती रहती है।

यथार्थ हो या चाहे मिथक हो वे लगातार अपनी ध्वन्यात्मक संवदेना ही पकड़ते और रचते हैं, चाहे लोकप्रथा हो, चाहे करूण प्रंसग हो, चाहे हास्य प्रसंग हो उन्हें वह दिखाई बाद में देता है, सुनाई पहले देता है। बल्कि कहना चाहिए कि सुनाई देते ही वह दिखाई भी देने लगता है।

नाटक

नाट्य साहित्य में श्रीशाह के खाते में एक मौलिक तथा अनूदित नाटक दर्ज हैं। 'माराजाई खुसरो' इनका एक मौलिक नाटक है। यह विषय वस्तु और शिल्प दोनों ही दृ ष्टियों से हिन्दी नाट्य साहित्य में विलक्षण है हाँलाकि मंच पर उसे विशेष सफलता नहीं मिली। अकीरों कुरासावा की फिल्म 'राशोमन' प्रसिद्ध जापानी उपन्यासकार रियूना अकुतोगावा की दो कहानियों के मेल का परिणाम है।

डायरी और पत्र

डायरी किसी भी लेखक के अन्तर्जीवन को ही नहीं उसके रचना दर्शन, रचना की समस्याओं तथा रचना प्रक्रिया के बारे में रोचक सामग्री उपलब्ध कराती है। श्रीशाह कई वर्षों तक डायरी लिखने के अभ्यस्त रहे हैं। यह उनकी अपने से बात करने की विधा है 'अकेला मेला' और 'इस खिड़की से' उनके डायरी संग्रह है।

पत्र

पत्र लिखना श्रीशाह की स्वभाव की एक ऐसी आदत है जो उन्हें अन्य लेखकों से भिन्न बनाती है। उनकी मूल प्रवृत्ति एकालाप की अपेक्षा संवाद की अधिक है। हिन्दी के प्रमुख साहित्यकार अज्ञेय, यशदेव शल्य, मलयज, अशोक, बाजपेई, श्रीराम वर्मा, कुँवर नारायण, डाँ. जगदीश गुप्त, डाँ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, अशोक संकसरिया से उनका अनवरत पत्र व्यवहार रहा। इन पत्रों की शैली प्रसंगानुसार लचीली और वैविध्यपूर्ण है।

2.4 सामाजिक मूल्यांकन : पुरस्कार एवं सम्मान

बहुआयामी साहित्यकार रमेश चन्द्र शाह को अब तक एकाधिक अखिल भारतीय सम्मान और पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं।

उन्हें पहला पुरस्कार तब मिला जब उनकी रचना 'स्मारक', 'कहानी' पत्रिका में छपी और कहानी पत्रिका की ओर से वर्ष 1974 का प्रथम पुरस्कार उन्हें इस कहानी केलिए दिया गया। 'गोबर गणेश' उपन्यास केलिए उन्हें मध्यप्रदेश साहित्य परिषद् का अखिल भारतीय पुरस्कार 1978 में प्राप्त हुआ। तदुपरान्त 'छायावाद की प्रासंगिकता' नामक ग्रन्थ पर उन्हें मध्यप्रदेश साहित्य परिषद् की ओर से 'आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी पुरस्कार' प्रदान किया गया। इसी संस्था ने उनके काव्य संग्रह 'नदी भागती आयी' केलिए वर्ष 1988–89 का भवानी प्रसाद मिश्र अखिल भारतीय पुरस्कार भी प्रदान किया।

मध्यप्रदेश शासन के संस्कृति विभाग ने उनकी साहित्यिक उपलब्धियों केलिए वर्ष 1987–88 में रमेश चन्द्र शाह को 'शिखर–सम्मान' से अलंकृत किया। वर्ष 2001 में व्यास–सम्मान तथा वर्ष 2004 में उन्हें 'पद्मश्री' से अलंकृत किया गया। यात्रावृत्त केलिए 'महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन पुरस्कार' केन्दीय भाषा संस्थान, आगरा का 2005 में मिला।

इसके अतिरिक्त शाह को भारतीय भाषा परिषद् कल्कत्ता द्वारा वर्ष 1994 में उनके तीसरे उपन्यास 'पूर्वापर' केलिए सम्मानित किया गया। वर्ष 1995 में भोपाल सांस्कृतिक संस्था 'मधुवन' ने उन्हे 'श्रेष्ठ कला आचार्य' के अलंकरण से विभूषित किया।

इन पुरस्कारों–सम्मानों के साथ इस बात का भी उल्लेख अप्रासंगिक न होगा कि भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद ने वर्ष 1978 में शाह को बेलग्रेड में आयोजित अन्तर्राष्टीय लेखक सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व करने केलिए और साथ ही हंगरी, चेकोस्लोवाकिया और पोलैंड में भी काव्य–पाठ, पत्र–वाचन तथा तत्तत् देशों के लेखकों के साथ भेट करने हेतु मनोनीत किया था।

2.5 समकालीन हिन्दी साहित्य में रमेशचन्द्र शाह का योगदान

रमेश चन्द्रशाह, भीष्म साहनी प्रेमचन्दोत्तर परंपरा के सशक्त रचनाकार हैं। सामाजिक यथार्थ की परंपरा ने शुरू की थी उसे अधिक वैज्ञानिक समझ के साथ कलात्मक आधार देकर साहित्य में अवतरित हुए। इस संबंध में कुमुद शर्मा के विचार उल्लेखनीय हैं दृ ''रमेश चन्द्रशाह ने प्रेमचन्द और यशपाल की परंपरा को आत्मसात कर उसे युग बोध की गहरी संवेदनशीलता और प्रबुद्ध रचनात्मकता दृष्टि से समन्वित करके अपनी रचनाधर्मिता के लिए रास्ता तलाशा।'' 10

रमेश चन्द्रशाह जैसे समर्थ साहित्यकार ने हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण कर न केवल अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है, बल्कि उनका आगमन हिन्दी साहित्य के लिए नवीन दिशा का द्योतक है।

रमेश चन्द्रशाह प्रगतिशील लेखक हैं, यह तो वितिाकधाका के अनुरूप हम कह सकते हैं। उनकी रचनाओं में प्रेमचन्द और यशपाल की तरह ही सामाजिक चेतना का यथार्थवाद का विकार मिलता है। समाजवादी लेखकों के उपन्यासों में प्राप्त यथार्थ का अध्ययन करने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उनके यथार्थ चित्रण में गहराई है। उन्होंने अपने उपन्यासों का चित्रण भी किया है। जहाँ उसने समस्या को उठाया है, वहाँ उस समस्या का निदान, आवश्यकता के अनुसार स्पष्ट किया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि रमेश चन्द्रशाह यथार्थवादी उपन्यासकार हैं। उनकी विशेषता और उनकी मौलिकता उनकी कथावस्तु के चयन में है। रमेश चन्द्रशाह के उपन्यास हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासों की पंक्ति में खडे हैं और पाठकों के प्रिय भी हैं।

- **रमेश चन्द्र शाह के रचना संसार का अध्ययन करते समय हम को निम्नप्रकार का टिप्पणी रूप में कह सकते हैः–**

साहित्य की कोई भी विधा ऐसी है, जो शाह ने छुई नहीं है। शाह उन बिरले लोगों में हैं जो शुद्ध साहित्यिक या साहित्यकार से अधिक एक बुद्धिजीवी की जिम्मेदारी हैं तथा

अपने लेखक की अलग ही पहचान बनाते हैं। वे कवि, आलोचक, निबन्धकार, कहानीकार, उपन्यासकार यहाँ तक कि नाटककार के रूप में भी हमारे सामने आते हैं। ये सारी भूमिकाएँ उनके व्यक्तित्व को विभाजित करने के बजाय व्यक्तित्व को एकीकृत करने वाली हैं। जब हम समकालीन हिन्दी साहित्य को शाह के योगदान से जोड़ते हैं तब हमारे लिए उनके रचना दृ संसार पर दृष्टि डालना आवश्यक हो जाता है। इस संदर्भ में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि शाह का रचना संसार अनूठा है। साहित्य की हर विधा में उनकी भूमिका को प्रश्नों, विचारों व बहसों के रूप में देखा जा सकता है।

उनका रचना–संसार उनके व्यक्तित्व की एक निष्ठता को ही सामने रखता है। इसीलिए जब हम उनकी आलोचना पढ़ रहे होते हैं तब हम उनके कवि–व्यक्तित्व को भूल जाते हैं और उनकी कविता पढ़ते हुए भूल सकते हैं कि यह उस व्यक्ति की कविता है जिसकी गंभीर आलोचना हम अभी पढ़ रहे थे। शाह ऐसे कहानीकार और उपन्यासकार हैं, जिनकी आलोचना का मुख्य केन्द्र कविता है। वे ऐसे आलोचक हैं, जो विधिवत् कथाकार हैं। वे ऐसे लेखक हैं, जिन्होंने हिन्दी खड़ीबोली की लगभग आदिम गद्य विधा–निबन्ध को, अपने सृजन और आलोचना की एक समकालीन विधा बनाने का प्रयत्न किया। शाह जब अंग्रेजी साहित्य के प्राध्यापक के रूप में प्रस्तुत होते हैं तो पहचानना मुश्किल होता है कि वे हिन्दी के एक बहुविध लेखक हैं।

शाह के रचना संसार की जो छवि और छाप है वह एक ऐसे विकल बुद्धिजीवी की छवि और छाप है जो अनेक विधाओं की व्यापक भूमिका पर साहित्य के प्रश्नों और अपनी सृजनात्मकता को समझने की कोशिश करता है। उनकी भाषा चाहे वह आलोचना की हो, चाहे निबन्धों की, चाहे कविताओं या कहानियों की–हमेशा एक संवादी मुहावरे में अपने को प्रगट करती है। उनकी भाषा में रूपकों उपमाओं का बहुत कम प्रयोग होता है और इस अर्थ में कोई भी गंभीर पाठक उसे निरलंकृत, स्पष्ट और तार्किक भाषा कहेगा। लेकिन इन तमाम चीज़ों के बावजूद और इन चीजों से परे यह भाषा एक दार्शनिक–'प्रश्न' के रूप में प्रस्तुत होती है।

शाह का सारा लेखन तर्कों, तथ्यों, बिम्बों, विचारों आदि का ही नहीं, प्रश्नों का एक ऐसा विन्यास है, जिसमें तर्क, तथ्य, विचार, बिम्ब सभी एक साथ प्रकाशित होते हैं। उनके लेखन के माध्यम से उनका पाठक साहित्य, संस्कृति अथवा समाज के बारे में अपने किसी भी प्रश्न को लेकर किसी दो टूक उत्तर तक नहीं पहुँचता। बल्कि इसके विपरीत शाह उन पाठकों को ही संबोधित हैं जिनके पास उत्तर हैं और जो जब उनके लेखन से सामना करता है तो उनके उत्तर उसके प्रश्नों में बदल जाते हैं।

स्वतंत्रता, स्वराज्य और संस्कार शाह के लेखन के ऐसे केन्द्रीय सरकार है, जो किसी भी प्रश्न को लेकर उनकी चिन्ताओं को त्रिआयामी बनाते हैं। यह त्रिआयामिता उन्हें एक ओर गाँधी से, दूसरी ओर अंग्रेजी साहित्य के माध्यम से प्राप्त स्वतंत्रता की यूरोपीय अवधारणा सो और तीसरी ओर अरविन्द, रमण महर्षि, आदि की टीकाओं से उभरते भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन से जोड़ती हैं। यद्यपि ये तीन स्वतंत्र दिशाएँ हैं, इनके बीच द्वन्द्व और विरोध की स्थितियाँ हैं। लेकिन शाह का उद्धम आद्योपान्त इन तीनों दिशाओं को इस तरह एक दूसरे के परिप्रेक्ष्य में समझकर परस्पर इस तरह निकट लाने का रहा है कि वे उनके किसी भी प्रश्न अथवा किसी भी प्रतिपाध्य की अवरोधी त्रिआयामी बनावट में संश्लिष्ट हो सकें।

शाह ने साहित्य की सभी विधाओं में लेखन कार्य किया है, लेकिन उनके रचना–संसार का प्रारम्भ बचपन से ही कवि–कर्म के रूप में हुआ। अपनी जीवनानुभूतियों को समझने के लिए, बाहरी और भीतरी अराजकता से जूझते हुए तथा उसके बीचों–बीच एक संतुलन प्राप्त करने के लिए शाह कविता लिखते हैं। वे मानते हैं कि कविता की प्रक्रिया और जीवन की प्रक्रिया के बीच कहीं कोई गहरा सम्बन्ध अवश्य है। शाह बताते हैं कि कविता लिखते हुए हम भाषा और शब्द की ऐसी छुपी हुई ताकत का पता पाते हैं जो अन्यथा नहीं पा सकते। शब्दों की जीवनी हमारी जीवनी से बहुत बड़ी है। कविता उसी को उसका व जगा देती है और इस प्रकार में हम चीज़ों का, उनके साथ अपने रिश्तों को, और स्वयं अपने आपको, बिलकुल नई तरह से देखने लगते हैं। अपनी भाषा की इस

जीवनी–शक्ति से उन्मेष प्राप्त करने के लिए इन अनुभव ही कविता लेखने की प्रेरणा होती है।

शाह की कविताओं में समाज वर्गीविभक्त रूप में नहीं, बल्कि बौद्धिक एक अविभक्त सगुण इकाई के रूप में उपस्थित रहता है। उन्होंने हिन्दी में वयस्क बौद्धिक मानसिकता की कविताएँ रची हैं और बाल–कविताएँ भी। साथ ही कुमाउनी कविताओं की रचना भी की है। पाठक उनकी हर तरह की कविताओं का स्वाद लेता है उनमें प्रयुक्त भाषा के ध्यानार्थ से तत्काल संवेदित होता है। कवि–कर्म के संदर्भ में शाह बताते हैं– कि भावोत्तेजनाओं के भीतर से, उनके उत्ताप को किसी अर्थ उजाले में बदल पाने के लिए ही कवि–कर्म की आवश्यकता होती हैं।

कविता की भाषा जीवन्त बोलचाल की भाषा के निकट रहनी चाहिए, साथ ही उसमें शिल्प की सजगता और साधना भी अनिवार्य है। कवि–कर्म कवि के स्वभाव और देश काल की जरूरत पर निर्भर होता है। विषय 'आइडियोलॉजी' से ज्यादा बड़ी चीज़ है। इसलिए कि रचना केवल विचार से नहीं निकलती, इन्द्रिय–मन–प्राण–बुद्धि समेत समूचे संवेदन दृ तंत्र की सक्रियता में से उपजती है।

शाह कहानी तथा उपन्यास के क्षेत्र में भी काफी चर्चित हैं। उन्होंने दस उपन्यास व चालीसेक कहानियाँ लिखी हैं। उनका स्पष्ट मानना है कि उत्कृष्ट रचनाओं में समाज का जो संवेदन है, उसके लिए किसी तथाकथित जनपक्षधरता के प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, वह अपना प्रमाण खुद हैं। हिन्दी कहानी में आए–गए उतार–चढ़ाव और विभिन्न साहित्यिक आन्दोलनों पर हुई प्रतिक्रिया के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि साहित्यिक आंदोलन सामान्यतः सामाजिक जीवन के ऐतिहासिक परिवर्तनों का ही रचनात्मक प्रत्युत्तर हुआ करता है। हिन्दी कहानी को लेकर चलाए गए विभिन्न आंदोलनों के बारे में भी किसी हद तक यही लक्ष्य होना चाहिए, किन्तु अधिकतर आंदोलनों के पीछे रचनात्मक अनिवार्यता का यह तर्क काम नहीं दिखाई देता।

शाह के चिन्तन को उसका द्वन्द्वात्मक चरित्र और विचलित कर देने वाला स्वभाव सिर्फ उनके आत्मान्वेषण से नहीं मिलता, बल्कि उससे मिलता है जिसे वे 'तादात्मय' की संज्ञा देते हैं। सामान्य जन के भोगे हुए अनुभव में साझेदारी, युग–यथार्थ के साथ स्नायविक, बौद्धिक और आध्यात्मिक संपृक्ति। यह तादात्म्य भी अपने भीतर कर्म का बीच छिपाये हुए है। शाह के मतानुसार– 'क्या राजनीति में, क्या साहित्य में, लोक चिन्तन व लोक चित्त ही वह माध्यम है जिस पर एकाग्र होकर हम उस परिवर्तन, उस क्रान्ति का आवागन कर सकते हैं जो, जीवन के कुंठित और भ्रष्ट हो गये अर्थ को, खोये हुए अर्थ को फिर से लौटा सके।'

साहित्यकार का सामाजिक दायित्व बोध कोई ऐसी सहज विश्लेष्य स्थूल चीज़ नहीं है, जिसे उसके कृतित्व से अलग करके बताया जा सके या निर्दिष्ट किया जा सके। जो कुछ समाज मन में घट रहा है, साहित्यकार को उसकी आहट सबसे पहले मिलती हैः सृजनात्मक ज्ञान तथा ज्ञान के और तमाम अनुशासनों के बीच यह बुनियादी अन्तर है। इस क्रम को उलटने का दंभ सृजन–प्रक्रिया को झुठलाना और दूषित करना है। सामाजिक दायित्व बोध तो भाषिक सृजन के साथ ही लगा है। शब्द सामाजिक प्रयोजनों के वाहक होते हैं। वे जीवित मानवीय हरकतें हैं। पर ऐसा नहीं है कि जिस रचना में दायित्न बोध की स्थिति हाशिये पर हो, उसमें रचनात्मकता नहीं होती। शाह ने अपनी रचनाओं में इन सब बातों के प्रति सजगता निभायी हैं।

2.6 निष्कर्ष

इस प्रकार विभिन्न विषयों को समेटते हुए समकालीन हिन्दी साहित्य के परिप्रेक्ष्य में शाह के साहित्य के विषय में यही कहा जा सकता है किः–

1. जीवन – जगत के प्रति शाह का संवेदन मूलतः कवि–चिन्तक का है। उनके लेखक जीवन का प्रारम्भ ही कविता से हुआ और अभी 2006 में प्रकाशित उनके छठे कविता–संग्रह तक उनके कवित्व का विकास–क्रम यही जताता है कि कविता जीवन की

आलोचना होने के साथ जीवन की अन्तर्निहित मर्म का उद्‌घाटन तथा आत्म–ज्ञान का उपकरण भी है।

2. मानव जीवन तथा मानव – चरित्र के प्रति गहरी जिज्ञासा और लगाव ही शाह के उपन्यास और कथा–साहित्य की मूल प्रेरणा और मूलाधार हैं। एक ओर उनकी प्रश्नाकुलता तथा मनोविश्लेषण की सहज अन्तुर्मुखी प्रवृत्ति उन्हें इस ओर प्रवृत्त करती है और दूसरी ओर जीवन–लीला के प्रति सहज औत्सुक्य प्रदान करती है।

3. व्यक्ति के व्यक्तित्व दृ रस के प्रति सहज आकर्षण तथा विनोद–वत्ति के साथ गंभीर जीवन–दृष्टि का मेल उन्हें निबन्ध रचना के प्रति उन्मुख करता है।

4. साहित्य के प्रति गहरा अनुराग तथा जीवन के गुणाधारों की अनवरत शोध का आग्रह ही शाह के आलोचकत्व को उत्प्रेरित करता है। अध्यापन कर्म के प्रति गंभीर दायित्व– बोध तथा जीवन–मूल्यों व साहित्यिक कला–मूल्यों के अविच्छेद्य सम्बंध की प्रतीति भी उन्हें आलोचना में प्रवृत्त करती है। आलोचक के रूप में वे पिछले साहित्य के प्रति ही नहीं, समकालीन साहित्य के प्रति भी समान संसक्ति के साथ सक्रिय रहे हैं।

5. आत्मालाप और संवाद दोनों इस लेखक के स्वभाव की अनिवार्य दिशाएँ हैं। वे आत्मा और ममेतर दोनों से संवाद करते हैं और जहाँ उनका अनेकविध रचनात्मक तथा चिन्तन–साहित्य इस उभयमुखी संवाद का माध्यम बनता है, वहीं पत्र, डायरी, यात्रावृत्त इस संवाद की पृष्ठभूमि में सक्रिय आत्मालाप को अनायास प्रकट करता है। ये उपक्रम भी उनके रचनात्मक साहित्य की पूरक पीठिका के रूप में मूल्यवान् तथा प्रासंगिक ठहरते हैं। सृजन के विस्तृत फलक पर जीवन की गहन–गढ़ चिन्तनयुक्त सहज प्रवाहमयी अभिव्यंजना शाह को प्रसाद और अज्ञेय की परम्परा में लाकर खड़ा करती है। यही ठोस चिन्तन–प्रणाली और बहुआयामी रचनात्मकता हिन्दी साहित्य का भावी रूप सँवारने में सक्षम होगी।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. शाह से साक्षात्कार – 1988 पृ.सं : 3
2. शाह से साक्षात्कार – 1989, पृ.सं : 52–53 तथा शाह, अगस्त, 1994, पृ.सं : 66
3. शाह से साक्षात्कार – अगस्त, 1994 – पृ.सं : 67
4. दिनमान – सर्वेस्त्र दयाल – पृ.सं : 4.
5. रचना के बदल – रमेशचन्द्र शाह निवेदन
6. आड़ू का पेड़ – रमेशचन्द्र शाह – पृ.सं : 1
7. पढ़ते–पढ़ते – रमेशचन्द्र शाह – पृ.सं : 49
8. स्वधर्मि और कालगति – रमेशचन्द्र साह – पृ.सं : 10
9. स्वधर्मि और कालगति – रमेशचन्द्र साह – पृ.सं : 58
10. स्वाधीन इस देश में – रमेशचन्द्र शाह – पृ.सं : 1
11. नेपथ्य से – रमेशचन्द्र शाह – पृ.सं : 49
12. नेपथ्य से – रमेशचन्द्र शाह – पृ.सं : 70
13. अक्षरा – प्रधान सं. कैलाशचन्द्र पंत – पृ.सं : 53
14. नदी भागती आयी की भूमिका – रमेशचन्द्र शाह – पृ.सं : 18